स्य

रक्षण तथा प्रचार।
वेचन।
नुसंधान।
कला का समालोचन।

त्रिका के चार अंक प्रकाशित

२—पत्रिका में उपयुक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित होते हैं।

३—पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४—लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया है, उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५—पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७१
संवत् २०२३
अंक १

वार्षिक मूल्य १०.००
इस अंक का २.५०

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

पौराणिकी

विमर्श

विविध

समीक्षा

*

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ७१] वैशाख, संवत् २०२३ [अंक १

पृथ्वीराजरासो में भूगोल*

सूर्यनारायण पांडेय

प्राकृतिक स्थिति और प्रसिद्ध स्थान

पृथ्वीराजरासो में प्रयुक्त 'भुवगोल'[1] शब्द आज के भूगोल से भिन्न अर्थ का सूचक है। भूगोल में नभ, जल और स्थल तीनों का ज्ञान सम्मिलित है, किंतु 'भुवगोल' में भूवृत्त की प्रधानता है। जयचंद ने अश्वमेध यज्ञ करने के विचार से लिखित 'भुवगोल' को हलापूर्वक देखा।[1]

आज के 'कुमारि हिमगिरि अटक कटक लौं' की भाँति अपने देश में चतुर्दिक दिशाओं का मानचित्र प्रत्येक युग के कवियों की रचनाओं में मिलता है। बाण की दृष्टि का भूखंड, हर्ष की दिग्विजयप्रतिज्ञा के संदर्भ में, पूर्व में उदयाचल, दक्षिण में त्रिकूट पर्वत पश्चिम में अस्तगिरि और उत्तर में यक्षों के निवासस्थान गंधमादन (बदरीनाथ के समीप हिमाचल की एक चोटी), इन चार बिंदुओं के रूप में समकालीन पृथ्वी की दिक् सीमा के रूप में उल्लिखित हुआ है। दसवीं शती के राष्ट्रकूट नरेश गोविंदराज के देवला ताम्रपत्र (८१६ ई०) में भी दक्षिण के सेतु, उत्तर के तुषाराद्रि एवं पूर्व पश्चिम के समुद्रों की सीमाओं की अवधि के बीच में **एकातपत्रीकृता जगती** की कल्पना की गई है। इस संबंध के सूचक कतिपय अन्य सूत्र भी मिलते हैं : यथा **अत्रिकूटं हिमाद्रयन्त योजनैः शत पंचभिः**।

* प्रस्तुत निबंध में डा० माताप्रसाद गुप्त द्वारा संपादित 'पृथ्वराज रासउ' का आश्रय लिया गया है। स्थलनिर्देश भी उसी ग्रंथ से हैं।

१. भुवगोल लिषित दिष्षिय सहीर। २।१।६।

पूर्वापरौ तोयनिधि हिमर्दंडश्च भारते ॥ (अपराजित पृच्छता ३८–१६)। जायसी ने उत्तर में हिमालय, दक्षिण में सेतुबंध, पूर्व में गौड़ बंगाल और पश्चिम में गजनी (हेम सेत औ गौर गाजना [2]।) के रूप में भारतखंड की कल्पना की है। प्रस्तुत काव्य में पृथ्वी[3] के 'धरनिपंड',[4] भरतखंड[5] की उत्तरी-पश्चिमी सीमा षुरासान[6] (खुरासान = ईरान), पारस[7] (ईराक) और अरब[8] देश[9] हैं। खुरासान के अमीर बंदा को जयचंद ने बंदी किया था।[6] पारस के लोग उसी (जयचंद) के द्वारा परिस्थापित थे।[7] उसकी सेना में अरब देश के लाखों घोड़े विद्यमान थे।[8] अफगानिस्तान के प्रसिद्ध नगर पधार[10] के बहुत से सैनिक जयचंद की सेना में थे, जिनको कन्नौज के युद्ध में पृथ्वीराज के जावला तथा जाल्ह नामक भारी सामंतों ने मार गिराया था।[10] वहीं के दूसरे प्रसिद्ध नगर गजनी[11] के शूर शाह शहाबुद्दीन की सेवा में रहनेवाले निसुरत खाँ को जयचंद ने बंदी किया था।[11] पृथ्वीराज ने गजनी[12]

२. पद्मावत ४२६, मू० सं० टीका, पृ० ५२५।

३. इलि १२।४७।१, कु ७।१२।१२, धर २।२।१, २।२८।२. ८।१।२ धरि २।१ २, धरनि ३।११।४, धरणि ५।३७।२, प्रथमी ४।१०।१४, पृथिमी २।३।२६, पुहवि २।३।२६, भूतल १०।११।४४, भूमि २।३।८, मही २।२।१, ६।२।२, रजोद ७।१२।५, रसा १।२।३, वसुंधरा ३।११।३, षिति २।११।७, षिति ४।११।८ षित्ति ६।५।२३, षितया ३।२।३।

४. धम्म दिगपाल धर धरनि पंड। ५।१३।३।

५. पृथ्वी राज रासउ, टीका, पृ० ११४।

६. बंधि षुरासान किय मीर बंदा। ५।१३ २३।

७. पारसी पाखषी। ७।१५।१३, १२।१३।५।

८. आरबी देसावरी लोह लच्छो। ६।५।२१।
'अर्व' संस्कृत शब्द का अर्थ है घोड़ा। घोड़े मिलने का स्थान = अर्वस्थान अरब।

९. देस ५।१३।११, ७ १०।२२, देसि २।७।५, देसावरि ६।५।११, परदेस २।५।४४. पायसं (प्रादेश) ७।२।२५।

१०. परउ आवलउ आलु सामंत भारे। जिने पारिया पंग पंधार सारे॥ ७।३१ ५-६।

११. गज्जिनी सूर साहाब साही। सेवते बंधि निसिरुत्ति पाही ॥५।१३।१९-२०।

१२. दूत कथन पृथ्वीराज से गज्जने देसि विच्छोहि जोरी। २।७।५।

देश में विक्षोभ उत्पन्न कर दिया था।[12] अंत में गजनी[13] का शाह (शहाबुद्दीन) चहुँआन नरेंद्र (पृथ्वीराज) को पकड़कर लेगया।[13] वंक्षु (ओक्सस) नदी के दक्षिण पश्चिम स्थित वाल्हीक नामक स्थान, जिसे प्राचीन काल में वैक्ट्रिया और अब बलख[14] कहते हैं,[15] के निवासी 'म्लेच्छ'[16] जयचंद द्वारा परिस्थापित[17] हो, उसकी सेना में पारसियों सहित साठ हजार की संख्या में विद्यमान थे।[18] वंक्षु (ओक्सस) नदी के पेटे में उत्तर की ओर कंबोज महाजनपद के बीचोंबीच सुमेरु[19]

१३ गहि चहुआंन नरिंद गयउ गज्जने साहि घर। १२।११।

गजनी में अब कोई आकर्षण और सज्जा नहीं है। शाह महमूद की कब्र गजनी से ६ कि० मी० दूर है। इस पर बनी इमारत डेढ़ सौ वर्ष से अधिक पुरानी नहीं लगती। पुरानी और नई गजनी के बीच शाह महमूद की विजयस्मृति में बनी दो विजय मीनारें हैं जिनका निर्माण पुरातत्व विशेषज्ञों के अनुसार १२वीं सदी का नहीं है। अब उसे एक गांव या अधिक से अधिक एक कस्बा कहा जा सकता है। साप्ता० हिंदुस्तान, लेखक कर्नल नरेंद्र पालसिंह, अनु० त्रिलोकीदीप।

अफगानिस्तान का प्राचीन प्रसिद्ध नगर गजनी, अक्षांश ३३-३४ उत्तर तथा देशांतर ६८°१८ पूर्व मध्य में स्थित काबुल से ४०॥ मील दूर समुद्र तट से ५१५० हाथ ऊँचा है। शहर चौकोर है। इसमें एक दुर्ग १॥ कोस की चहारदीवारी, मिट्टी के १॥ हजार घर और दोनों तरफ सुलतान महमूद की ईंटों की बनी दो मीनारें हैं। अधिवासियों में अफगान हजारे और कुछ हिंदू दुकानदार हैं। बहुतों का मत है कि हिंदू राजाओं ने यह नगर बसाया था। न० ना० वसु०, हिंदी विश्वकोश।

१४. पाखषी ७।१५।१३। टीका, पृ० १८६, में वे बलख के होते हैं, लिखा है। बल्ख का शासनकर्ता वंश 'बरमक' < परमक = नव विहार का श्रेष्ठ मठाधीश है।—श्री पी० एन० ओक, साप्ता० भारत, ११।४।७५।

१५. श्री वा० श० अग्रवाल का लेख 'प्राचीन भारतीय भूगोल', कल्पना, जून १९५५।

१६. मेच्छ ७।१५।१।

१७. पंग पारठ्ठ पी। ७।१५।१४।

१८. सट्ठि हज्जार पी। ७।१५।१७।

१९. सुमेर गंग पत्तयो। ३।१७।२०; जानु भौंवरि भानु सुमेर करइ। ८।६।१४

पर्वत[२०] है[२१] जिसके लिये कवि की कल्पना है कि सरस्वती के गले की मुक्तामाल को मानो सुमेरु पर्वत ने गंगा के रूप में प्राप्त कर लिया है[२२] अथवा कन्नौज युद्ध में जयचंद की सेनाएँ काली रात्रि में इस प्रकार गमन कर रही हैं, जैसे भानु सुमेरु की भाँवरें भर रहा हो।[२३]

सुमेरु के पूर्व कासमीर[२४] है, जहाँ की केशर जन प्रसिद्ध है।[२४] तदुपरांत सिंधु[२५] प्रदेश[२६] पड़ता है, जहाँ सिंधु[२७] नदी[२८] और लाहउर[२९] (लाहौर) नगर हैं।

२०. गिर ७।५।३, गिरि ४।११४, पव्वइ ६।४।२, पव्वय ६।१४।२, पव्वत ७।६।१।

२१. प्राचीन भारतीय भूगोल, कल्पना, जून १९५५।
—मेरु और सुमेरु एक ही है। मत्स्यपुराण, अ० ११३।
—महाभारत में लिखा है कि पांडवों ने महागिरि हिमवंत को पार करके बालुकार्णव के दर्शन किए (महाप्रस्थानिक पर्व २।१-२) और उसी के पास महापर्वत मेरु को देखा। मेरु निश्चयपूर्वक पामीर का पठार है, जहाँ से पूर्व में सीता (यारकंद) और पश्चिम में चक्षु (आमू दरिया) निकलती थी। मेरु के ही उत्तर में उत्तर कुरु था (मेरोः पार्श्वे तथोत्तरे उत्तराः कुरवो राजन् पुण्याः सिद्धनिषेविताः।), भीष्मपर्व, ७।२।

२२. ३।१७।२०, टि० सं० १६।

२३. ८।६।१४; टि० सं० १६।

२४. कसि कासमीर सुरंगनं। विपरीत रंभ ति जंघनं। १०।११।६-१०।
कासमीर [की केशर] के सुंदर रंग को खींचकर [उनसे रँगे हुए] उलटे [रक्खे हुए] कदली के सदृश संयोगिता के जंघे हैं।

२५. सिंधु सा बंधु बंधे धुरंगा। (सिंधु देश के धुरंग हाथी बँधे थे) ७।१०।१६।
यह गुर्जर (दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान) के पश्चिम था। रा० च० विद्यार्थी, हमारा इतिहास, पृ० १०६, ११५। वा० श० अग्रवाल के अनुसार यह सिंधु और वितस्ता (झेलम) के बीच का भाग है। कल्पना, जून १९५५, पृ० २८।

२६. पावस (प्रदेश) ७।१२।२४।

२७. २।३।१, ५।१३।५, ६।५।१५, ११।७।१।

२८. सरित्त १।४।१४, सलिता ७।४।१, ६।११।३।

२९. लोह लाहउर बाजइ तुरक्की।

मुरधर[30] (मरुधरा = राजस्थान) में उत्तर-पूर्व से दक्षिण-पश्चिम की ओर क्रमशः जांगल[31] (उत्तरी पूर्वी राजस्थान[32]), साँभर[33] (मध्य राजस्थान[34]) नागवर[35] (नागौर), रणथंभ[36] (रणथंभोर)। अजमेरि[37], जालोर[38] और अब्बू[39] (आबूत) समाविष्ट थे।

३०. [पृथ्वीराज ने] दिसि मुरधर उप्पदेस । २।६।१ ।

३१. जंगलि [गुरु गोविंदराज का कथन] हम जंगलि वास कालिंदी कूल । २।३।२७ ।
= च्यारि जांम जंगली राय (पृथ्वीराज) मिसि निद्‌ म बुट्टउ ७।२१।३ ।
= इह मग्गा किति राय पंग को जियन किति रा जंगली । ८।४।५ ।

३२. प्राचीन भारतीय भूगोल, कल्पना, जून १६५५, पृ० २६ ।

३३. [पृथ्वीराज का] वृत्ता रता संभरि । १।६।१ ।
= सैंइभरि सकोप सोमेस पुत्र २।३।२३ ।
= ४।१०।१, ४।६।४ आदि ।

३४. दे० टिप्पणी संख्या ३२

३५. बीकानेर राज्य का निकटवर्ती एक छोटा सा स्थान है। यहाँ पर एक गाय को सिंह से अपने बच्चे को वीरता पूर्वक बचाते देखकर पृथ्वीराज बहुत प्रसन्न हुए और गो संवर्द्धन हेतु 'नवनगर' बसवाया जिसका परिवर्तित रूप नागोर है। नागोरी गाय जनप्रसिद्ध हैं। न० ना० वसु, हि० वि० कोश।

३६. तैं रावउ रणथंभ राय जादव सह हथ्थउ । ८।४।४ ।
जयपुर सामंत राज्य के अंतर्गत एक गिरिदुर्ग, अक्षांश २६-२ उत्तर और देशांतर ७६-३० पूर्व यह रणथंभ स्थित है।

३७. राजं जा अजमेरि केलि कविरं । १।६।१ ।

३८. तै रावउ जालोर चंपि चालुक चाहंसउ । ८।४।२ ।
जोधपुर राज्य का यह प्रधान नगर अक्षांश २५'२१ उत्तर और देशांतर ७२'३७ पूर्व जोधपुर से ७५ मील दक्षिण तथा मारवाड़ मरुभूमि के दक्षिण है। परमार वंश के किसी राजा ने १२वीं सदी में इसकी स्थापना की। इस शहर का प्राचीन नाम जालंधर है। न० ना० वसु, हि० वि० कोश।

३९. परह जहत पंमार अब्बू जू राया । ११।१२।२३ ।
राजस्थान के सिरोही राज्य में अरावली पहाड़ की चोटी पर, अक्षांश २४'३५'३७" उत्तर और देशांतर ७२'४५'१६" पूर्व यह स्थित है।

राजस्थान के पश्चिम स्थित गुर्जर[४०] प्रदेश के अधिपति भीमसेन [चालुक्य] को पृथ्वीराज ने गिराकर उसकी शक्ति को नष्ट किया था।[४०] वहाँ के माल चंदेलु ने कन्नौज के युद्ध में पृथ्वीराज के लिये प्राणोत्सर्ग किया था।[४१] गुर्जर के दक्षिण कच्छ[४२] और गुंड[४३] हैं, जो क्रमशः घोड़े[४] और वीर सैनिकों के लिये प्रसिद्ध भूमिभाग है।

भारतीय इतिहास में दिल्ली[४४] की सार्वकालिक महत्ता रही है। काव्य नायक पृथ्वीराज को दिल्लीपुर में द्योतित होने के लिये ही मानो विधाता ने निर्मित किया था।[४५] योगिनीपुरपति (पृथ्वीराज) स्वतः शूर है। पंगु (जयचंद) अपनी पारस सेना के मिस राजशेखर है।[४६] जयचंद के मन में अन्य राजाओं को जीत

अरावली पहाड़ की चोटी होते हुए भी उससे कोई संबंध नहीं रखता। यहाँ असभ्य, शायद भीलों की एक शाखा रहती है। वशिष्ठ के यज्ञ से राजपूतों के अग्निकुल की उत्पत्ति यहीं से कही जाती है। इसी वंश ने दैत्यों का विनाश किया था, जिससे पर (शत्रु यज्ञविरोधी, दैत्य) + मार (विध्वंसक) = परमार नाम पड़ा। यहाँ की गुफा में एक पदचिन्ह को लोग भृगुपद समझते हैं। न० ना० वसु, हि० वि० कोश

४०. [पृथ्वीराज ने] भंजिश्रा भूप झड़ि भीमसेन। २ ३।३२। टीका में उसके लिये गुर्जराधिपति लिखा है।

४१. परउ माल चंदेलु जेन धवली धर गुरजर। ७।२७।१।

४२. गनइ को कंठ कंठीन कच्छी। ६।५।२२।

४३. [जयचंद ने] छंडिअउ बंधि इक गुंड जीरा। ५।१३।१६।
= [कन्नौज के युद्ध से जयचंद के] वीर गुंडीर सा सोभ भूंगा। ७।६।४५।
= बंबई प्रांत के काठियावाड़ एजेंसी में नवानगर राज्य के मानवाड़ महाल का एक गाँव, जो अपने प्राचीन सिंह शिलालेख के लिये प्रसिद्ध है। न० ना० वसु, हि० वि० कोश।

४४. जोगिनीपुर २।३।१, योगिनीपुर ६।१७।१, ८।८।२, डिल्लीय ७।१।१, डिल्लीपुर १।६।४, दिल्ली ५।१।४, ८।६।३।

४५. निर्मानं विधिना न जान कविना डिल्लीपुर भासिनं। १।६।४।

४६. जोगिनीपुर पति सूरो पारस मिसि पंगु रायेस। ८।८।२।

लेने के उपरांत दिल्लीपति (पृथ्वीराज) को जीत न सकने के कारण बड़ा खेद उत्पन्न हुआ।[४७] वर्तमान दिल्ली के समीप ही पूर्व में षंडु[४८] (खांडव) वन[४९] था, जिसको अर्जुन ने अपने क्रोध से दग्ध किया था। ठीक उसी प्रकार पृथ्वीराज ने भी कन्नौजयुद्ध में अपना दाहक रोष प्रकट किया।[५०] दिल्ली से पूर्व की ओर[५१] ६५ कोस की दूरी पर[५२] गंगा के बाएँ तट पर कन्नौज[५३] स्थित है। काव्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं विशद वर्णन इस स्थान का हुआ है। जयचंद राठ[५४] प्रदेश का पति

४७. जोगिनीपुरेस सुनि भयउ षेद। २।३।५।
४८. षुल्लियं षग्ग षंडु वन लग्गं। ७।१७।४।
४९. वन १।६।३, ७।१७।४, ८।३।१, ९।१४।१; वनि २।५।२५, ३।१४।१, १२।१९।३।
५०. ७।१७। १ से ४ तक।
५१. प्राची हय गय वह्यो रह्यो गत चिंता नरेंद्र तहँ। ८।७।२।
५२. पंच थहि सौ कोस कहहु डिल्लिय बस कथ्थहु। ८।६।३।
५३. कनवज्जिय जयचंद चलउ ढिल्लियसुर पेषन। ४।१।१।
५३. कन्नौज उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में ग्रैंड ट्रंक सड़क से ३ कि० मी० दूर २७°३' अक्षांश उत्तर और ७९°५६' देशांतर पूर्व स्थित है। रामायण में उल्लिखित गुप्त साम्राज्य का मुख्य नगर छठी सदी में हूणों के आक्रमण से विनष्ट हो गया था। चीनी यात्री युवानच्वाङ् ने इसका वर्णन किया है। ११९४ ई० मे मुहम्मद गोरी ने इसपर कब्जा कर लिया था। 'आइने अकबरी' से ज्ञात होता है कि अकबर काल में यहाँ सरकार का मुख्य कार्यालय था।
५४. सुलष राठ बयराठ विजपाल नंदा। ।५।१३।२४।
उत्तर प्रदेश के हमीरपुर जिले की एक तहसील जो अक्षांश २५°१९' से २५°४६' उत्तर तथा देशांतर ७९°२१' से ७९°४५' पूर्व के मध्य स्थित है। इसमें राठ नामक नगर और १७९ ग्राम लगते हैं। राठ नगर (अक्षांश २५°३६' उत्तर और ७९°३४' पूर्व देशांतर के बीच) हमीरपुर शहर से ५० मील दक्षिण पश्चिम स्थित है। राठौर राजपूतों के रहने के कारण उसका नाम राठ पड़ा। १२१० ई० में सरफउद्दीन ने उस नगर को बसाकर अपने नाम पर 'सरफाबाद' रक्खा। नगर के दक्षिण भाग में प्राचीन चंदेल राजवंश के महलों का खंडहर और जैतपुर तथा चरखारी राज्यों के द्वारा प्रतिष्ठित दो दुर्गों के भग्नावशेष विद्यमान हैं। न० ना० वसु, हिं० वि० कोश।

राष्ट्र [कूट] विजयपाल का पुत्र था[54] और यहीं रहा करता था। तीर्थराज[55] में त्रिवेणी[55] तुल्य आरुढ़ कन्नौज की सुंदरियों के कच उनके कोकनद सदृश करो द्वारा सुलझाए जा रहे थे।[55] इस त्रिवेणी म गंगा[56], यमुना[57] और सरस्वती का संगम है। गंगा की तरल तरंग की तरह कवियों की बुद्धि तरंगित होती है।[58] नदियों की तरह पहाड़[59] भी पूज्य और तीर्थस्थल हैं। उनमे बदरिकाश्रम[60] और कैलास[61] भारत के चतुर्धामों में से हैं। इन दोनों पहाड़ो की चोटियाँ[62] उत्तर प्रदेश के गढ़वाल जिले में हैं। गजनी मे पृथ्वीराज की कैद और उसकी आँख फोड़वाने की बात सुनकर कवि चंद ने संसार छोड़कर बदरिकाश्रम[60] में तप करने का निश्चय किया।[60] अश्वमेध यज्ञ के समय कन्नौज को मानो ब्रह्मा ने दूसरे कैलाश[61] के रूप मे सुसज्जित किया है। इसी कैलाश के पास एक हेमकूट पर्वत[63] है, जिसमे स्थित राज्यों को जयचंद ने सपूर्ण रूप से ढहाया था।[63]

आजकल जिसे बिहार कहते हैं, उसका प्राचीन नाम मगध था। जयचंद ने वहाँ जाकर तिरहुति[64] मे सेना स्थापित की थी।[64] वहीं के करनाट[65] की एक

५५. करं कोकनदं ति कंचू समुभ्भं। मनहु तिथ्थराज त्रिनतली भलुभ्भं। ४।२०। २१–२२।

५६. गंग १।१।८, २।११।२ ८।३।६, गंगे ४।११।१, जांहनवी ४।१७।१।

५७. २।३।२७, ४ २०।१७।

५८. जिनौ बुद्धि तारंग सु गंगा सरिसं। १।४।१४।

५९. गिरि २।७।१२, ४।११।४, ५।६।४, सैंयल ८।१०।२८।

६०. मह तक्कड तप्प बदरीय थान। १२।१५।७।

६१. मनु सज्जिया बंभ केलाश बीय। २।३।६४।

६२. गिरि सिषिर २।७।१२, गिरि तुंग ४।११।४।

६३. जिनि हेम परबत्त ते सब्ब धाहे। ५।१३।७।
डा० माताप्रसाद गुप्त ने प्रस्तुत टीका में हेम को मेरु के समीप बताया है। मत्स्य पुराण के अनुसार यह पर्वत कैलाश के पास बताया है। डा० वा० श० अग्रवाल के अनुसार यह कैलाश का ही दूसरा नाम है। कल्पना, जून १६५५।

६४. थाप्पियं जाय तिरहुत्ति पिंड। ५।१३।१०।

६५. करनाटी दासी सुवन रजनी अथ्थि प्रवास। काम मुच्छ कयमास तनु दिट्ठि विलग्गी तास। ३।१।१,२।

सुंदरी दासी पृथ्वीराज के आस्थान आवास मे रहती थी, जिसकी ओर महामात्य कयमास की कामदृष्टि लग गई थी।[६५]

उड़ीसा,[६६] जिसका प्राचीन नाम कलिंग है, की अनुपम सांस्कृतिक देन है। इसी के अधिवासियों ने द्वीपांतर मे जाकर सुमात्रा-जावा आदि उपनिवेश स्थापित किए थे। वहाँ के निवासी आजतक अपने को 'किलंग' कहते हैं। यहाँ का नृत्य लोक-प्रसिद्ध है। जयचंद के दरबार मे ओड़[६७] (उड़ीसा) का नृत्य हुआ करता था।[६७] उड़ीसा के दक्षिण त्रिलिंग[६८] और गोलकुंडा[६९] हैं, जिनको जयचंद ने तीन दिन तक रुंड-मुंड युद्ध करके वश मे किया था।

६६. ओड्रविषय > ओड्रविष > ओडिष > आडिष या ओडिषा।

६७. कुसंम सार आवधं कुसंम सार उडु नट्टरी। ५।३८।१०।

६८. [जयचंद ने] तोरी तिलिंग गोवलकुंडा। ५।१३।२६।

त्रिलिंग दक्षिण भारत का एक प्राचीन देश है। कहते हैं कि कालेश्वर, श्रीशैल और भीमेश्वर नामक तीन पहाड़ों पर शिवलिंग रूप में आविर्भूत हुए थे। उसी से इसका नाम त्रिलिंग पड़ा। पहली सदी में प्लिनिगे ने 'मोदोगलिंगम्' (तैलंग में मुदु का अर्थ तीन होता है), दूसरी सदी में टलेमी ने 'त्रिगलिप्टेन या त्रिगलिफेन्' देश, छठी सदी में शिलालिपि या ताम्र शासन में 'त्रिकलिंग' देश और बाद में उत्कल और कलिंग के राजाओं ने अपना परिचय 'त्रिकलिंगनाथ' से दिया है। ग्यारहवीं सदी के प्रथम भाग मे उत्कलराज उद्योत केशरी के समय में उत्कीर्ण ब्रह्मेश्वर लिपि में सर्वप्रथम 'तिलंग' देश का उल्लेख हुआ है। इससे कहा जा सकता है कि कलिंग राज्य का दक्षिणांश एक समय में 'तिलंग' नाम से विख्यात था। कृष्णा नदी से पेन्नर या पिनाकिनी नदी तक दाक्षिणात्य के पूर्वांश में प्रायः समस्त भूभाग पहले 'तैलंग' था। कुछ लोग पुराण के अंध्र राज्य को तैलंग कहते हैं। कनिंघम ने भी अंध्र या तैलंग देश गोदावरी और कृष्णा नदी के मध्यवर्ती भूभाग को बताया है। आइन-ए-अकबरी में यह बरार के दक्षिणांश में और तिब्बत के पंडित तारानाथ ने १६०८ ई० में कलिंग, त्रिलिंग का ही कुछ अंश बताया है। तैलंग पंडितों का कहना है कि कण्व मुनि ने सर्वप्रथम तेलगू का व्याकरण बनाया था, जो मिलता नहीं है। न० ना० वसु, हि० वि० कोश।

६९. यह मद्रास में विशाखपट्टन जिले के अंतर्गत एक खास तालुक है जो अक्षांश १७·२५' तथा १८·४' उत्तर देशांतर ८२° एवं ८२·५° पूर्व स्थित है। इसमें ५१७ गाँव है। सरकार का यह वनविभाग है। दूसरा

पांडय देश मे सेतुबंध[७०] रामेश्वर तीर्थ है, जहाँ से समुद्र यात्री लंका[७१] (सिंहल[७२]) जाते हैं। जयचंद ने सेतुबंध के पहाड़ों पर सेना का उतारी[७३] और भूलकर [लंका जाकर] विभीषण पर आक्रमण कर बैठा।[७३] यह स्थान सुंदर मोतियों के लिये प्रसिद्ध था।[७२]

इनके अतिरिक्त डाहल,[७४] थट्टा,[७५] धार,[७६] पंगुर,[७७] बड़रागर,[७८] मग्गुल,[७९] विस्वासर,[८०] पुषंद,[८१] सरवर[८२] स्थान, वहिलावन[८३], दावाग्नि,[८४] पहाड़ों मे

गोलकुंडा निजाम राज्य के अंतर्गत एक ध्वंसावशिष्ट नगर और दुर्ग है जो अक्षांश १७·२३' उत्तर और देशांतर ७८·२४' पूर्व हैदराबाद से ७ मील पश्चिम स्थित है। न० ना० वसु, हि० वि० कोश।

७०. उत्तरघउ सेत बंधह पहारे। ५।१३।१२।

७१. मनउ वानरा लग्गि लंकाहि गार्ज। ७.६।१८।

७२. लहुंति मुक्ख सिंघले। ४।१४।२०।

७३. भुल्लि विभीषन पांहि रोरे। ५।१३।२१।

७४. [जयचंद ने] करण डाहलं दु वार बाध्यंउ। ५।१३।१३।

७५. परउ भान भट्टी मुआल थट्टा धर अग्गर। ७।२७।२। यह सिंध प्रदेश में है।

७६. निर्वान वीर धार तनउ रुक्कत हक्क नरेंद्र दल। ७,२७।५। यह मालवा में है।

७७. तै राषउ पंगुरउ भीम पट्टी वह मथ्थउ। ८।४।३।

७८. [जयचंद ने] लिये बड़रागरे सब्ब हीरा। ५।१३।१८।

७९. मग्गुल पति विभ्रम चालुक्य। ८.२८।६।

८०. सिद्ध चालुक नाह मंत्र गहने दूरे स विस्वासरे। १।६।१।
मत्स्य पुराण के अध्याय १३ में देवी के १०८ नामों के वर्णन में विश्वेश्वर में विश्वादेवी अथवा विश्वेश्वर तीर्थ में पुष्टिदेवी का जिक्र हुआ है।

८१. [पृथ्वीराज ने] प्रथम अरिराज पंडे पुषंदा। २।७।२।
गोरखपुर में नोनखार स्टेशन से डेढ़ मील दूर खुखुंदों एक स्थान है। वा० श० अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारत, पृ० ४३।

८२. [पृथ्वीराज का स्वतः कथन] मह गोरी साहब्बदीन सरवर साहता। ८।२।४।

८३. [पृथ्वीराज] वहिला वन वासिन। १.६।१।

८४. २।७।१४, १६।१४।

गिरिंकन[८५] (कंदरा) और नदियों में उसके तट[८६] का भी उल्लेख हुआ है।

पृथ्वी को दिक्पाल,[८७] बाराहरूप[८८] भगवान और शेषनाग[८९] धारण किए हुए हैं। उसमें कभी कभी भूकंप[९०] आजाता है। उसके स्थल[९१] पर गर्त,[९२] पंक,[९३] और धूल[९४] है।

उपमा में समुद्र[९५] की विशालता[९६] और गर्जन[९७] का उल्लेख हुआ है। महोदधि[९८] में सूर्य छिपने की बात उल्लेखनीय है।

दसवीं शती के पूर्व ही 'बृहत्तर भारत' बन चुका था, फिर भी इस काव्य की भूमिगत सीमा खुरासान, कैलाश, तिरहुति, तिर्लिंग, सिंहल और कच्छ है। प्रयुक्त स्थानों का काव्यगत प्रयोग राजनीतिक लक्ष्य अथवा विशिष्ट प्राप्य[९९] वस्तु के कारण

८५. [पृथ्वीराज के डर से दुष्ट] एक गहि गहि गिरिंकन। ५.१६।४।

८६. [संयोगिता के वचनों से कुपित होकर जयचंद ने] तब क्रुक्रित राइ गंगह तट च रचि पचि उच्च आवास। २।२७।४।

८७. ५।१३।३ ।

८८. ३।२४।१, ६।२२।१, ७।६।५ ।

८९. ७।६।२६ ।

९०. ३।६।१ ।

९१. ३।२७।५ ।

९२. दाहिर ३।३५।२ ।

९३. कीच ४।२५।४, वंक ६।७।८ ।

९४. बंबर ७।४।१३, रेण ६।२२।१, रेन ४।१।५, ७।१२।१७, षेह ७।२८।२ ।

९५. दरिआह ५।१३।१२, ७।४।८, समुद्द १।४।११, ७।१२।४, समुम ८।६।६।

९६. १।४।११ ।

९७. ७।४।८, ७।१२।४ ।

९८. मिरा महोदधि ममझ दिसंत असंत तम। ७।२३।१ ।

९९. कच्छ (घोड़ा) ६५।१३, अरब (घोड़ा) ६।५।११, बैरागढ़ (सोना) ५।३८।१८, काश्मीर (केशर) २।७।३. सिंधु (धुरंग हाथी) ७।१०।१६, लाहौर (तुर्की घोड़े) ६।५।१३, गुंड (वीर सैनिक) ५।११।१८, पारस (वीर सैनिक) ८।८।२, प्रयाग (तीर्थराज) ४।२०।२२, बदरिकाश्रम (तपस्थान) १२।१५।७, कैलाश (शिव) २।३।६८, करनाट (दासी) ३।३।१, उड़िसा (नृत्य) ५।३८।१०, सिंहल (मोती) ४।१०।१० ।

हुआ है। प्राकृतिक उपादान यथा नदी एवं पहाड़ आदि अपने स्वाभाविक गुण, युद्ध की भयंकरतावृद्धि,[१००] आदर्श अंग के उपमान[१०१] अथवा धार्मिक दृष्टिकोण[१०२] के रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं।

*

१००. २।२८।२, ७।१२।५, ७।१२।१२।
१०१. ६।१४।२, ४।१० १६।
१०२. ४।११ समस्त पद।

मंडन और उनका नयनपचासा

किशोरीलाल गुप्त

•

१. मंडन संबंधी उल्लेख

मंडन और तासी

मंडन का सर्वप्रथम उल्लेख तासी ने किया है। वह इनके संबंध में लिखता है कि मंडन ने 'जनकपचीसी' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसमें जनक की पुत्री सीता के राम के साथ विवाह का वर्णन २५ छंदों में हुआ है और यह ग्रंथ मैनपुरी से प्रकाशित हुआ था। हिंदी कविता के इस छोटे ग्रंथ में कुल १६ पृष्ठ थे![1]

मंडन और शिवसिंह सरोज

मंडन का द्वितीय उल्लेख शिवसिंह सरोज में मिलता है। सरोज में इस कवि के संबंध में निम्नांकित सूचनाएँ मिलती हैं—

क. मंडन जैतपुर बुंदेलखंड के रहनेवाले थे।
ख. यह संवत् १७१६ में उपस्थित थे।
ग. यह महाकवि हो गए हैं।
घ. यह राजा मंगदसिंह के यहाँ थे।
ङ. रसरत्नावली, रसविलास और नयनपचासा, ये तीनों ग्रंथ इनके बनाए हुए महा उत्तम हैं। रसरत्नावली साहित्य में देखने योग्य ग्रंथ हैं।

मंडन और ग्रियर्सन

ग्रियर्सन ने 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान' की १५४ कवि-संख्या पर मंडन का विवरण दिया है, जो पूर्णतया सरोज के आधार पर है। ग्रियर्सन ने सरोज में दिए संवत् १७१६ को जन्मकाल समझकर इनका जन्म सन् १६५६ ई० में माना है। इनकी कविता के काव्यनिर्णय एवं सुंदरीतिलक में होने का संकेत किया है। वस्तुतः काव्यनिर्णय में इनकी कविता नहीं है। ब्रजभाषा कवियों में प्रमाणकोटि में आनेवाले कवियों की जो सूची (काव्यनिर्णय, प्रथम उल्लास, छंद १६)

१. हिंदुई साहित्य का इतिहास, पृ० २००।

भिखारीदासजी ने दी है, उसमें मंडन का भी नाम है। हाँ, सुंदरीतिलक में इनके सवैये हैं।

मंडन और मिश्रबंधु विनोद

विनोद के अनुसार मणिमंडन मिश्र उपनाम मंडन का जन्म संवत १६६० में जैतपुर बुंदेलखंड में हुआ था। मंडन भाग्यशाली कवि हैं क्योंकि कवि मंडली में इनका नाम खूब है, यहाँ तक कि कुछ लोग इन्हें बड़े ही ऊँचे दरजे का कवि मानते हैं। इनकी कविता सरस और मधुर होती थी। मिश्रबंधु इन्हें तोप-श्रेणी प्रदान करते हैं। उन्होंने इनके दो सवैये उद्धृत किए हैं, जिनके प्रतीक हैं—

१. अलि हौं तो गई जमुना जल को

२. खेलन को रस छाँड़ि दियो

मंडन के नाम से मिश्रबंधुओं ने कुछ पद भी सुने थे। उनके अनुसार इनके बनाए हुए रसरत्नावली, रसविलास, जनकपचीसी, जानकी जू का विवाह और नैनपचासा नामक ग्रंथ प्रथम त्रैवार्षिक खोज (१६०६-०८ ई०) में लिखे हैं। विनोद के अनुसार इन्होंने 'पुरंदर माया' की रचना १७१६ में की। वस्तुतः १६०६-०८ की खोज में जनकपचीसी। (१६०६।७२), जानकी जू का विवाह (१६०६।७५) और पुरंदर माया (१६०६।२६१) ये तीन ग्रंथ ही मिले थे। पता नहीं मिश्रबंधुओं ने किस आधार पर पुरंदर माया का रचनाकाल संवत् १७१६ दिया है। १७१६ तो शिवसिंह सरोज में दिया हुआ मंडन का उपस्थितिकाल है।

मंडन और आचार्य शुक्ल

आचार्य शुक्ल ने मंडन के संबंध में यह विवरण दिया है—

"ये जैतपुर बुंदेलखंड के रहनेवाले थे और संवत् १७१६ में राजा मंगदसिंह के दरबार में वर्तमान थे। इनके फुटकल कवित्त सवैये बहुत सुने जाते हैं, पर कोई ग्रंथ अबतक प्रकाशित नहीं हुआ है। पुस्तकों की खोज में इनके पाँच ग्रंथों का पता लगा है—रसरत्नावली, रसविलास, जनकपचीसी, जानकी जू का ब्याह, नैनपचासा।

प्रथम दो ग्रंथ रसनिरूपण पर हैं, यह उनके नामों से ही प्रकट होता है। संग्रह ग्रंथों में इनके कवित्त सवैये बराबर मिलते हैं। 'जेइ जेइ सुखद दुखद अब तेइ तेइ कवि मंडन बिछुरत जदुपत्री' यह पद भी इनका मिलता है। इससे जान पड़ता है कि कुछ पद भी इन्होंने रचे थे। जो पद इनके मिलते हैं, उनसे ये बड़ी सरस कल्पना के भावुक कवि जान पड़ते हैं। भाषा इनकी बड़ी ही स्वाभाविक, चलती और व्यंजनापूर्ण होती थी। उसमें और कवियों का सा शब्दाडंबर नहीं दिखाई पड़ता।"

आगे शुक्लजी ने 'अलि हौं तो गई जमुना जल को' प्रतीकवाला सवैया उदाहरण में उद्धृत किया है। यह सवैया मिश्रबंधुविनोद में भी उद्धृत है और मंडन का संभवतः सर्वाधिक प्रसिद्ध छंद है।

२. मंडन का रचनाकाल

शिवसिंह सेंगर ने शिवसिंह सरोज में मंडन का समय सं० १७१६ दिया है। हिंदी साहित्य के सभी इतिहासकार इसी समय के चारों ओर चक्कर लगाते रहे हैं। ग्रियर्सन ने इसे जन्म संवत् मानकर इसमें से ५७ घटाकर इनका जन्मकाल सन् १६५६ ई० स्वीकार किया है। मिश्रबंधुओं ने इसे रचनाकाल माना है और इसे कवि का प्रारंभिक रचनाकाल समझकर उस समय कवि की वय मोटे तौर पर २५-२६ वर्ष मानकर इनका जन्मकाल सं० १६६० वि० अनुमान किया है और पुरंदरमाया का रचनाकाल सं० १७१६ स्वीकार किया है जो कि स्वयं सरोजकार द्वारा दिया हुआ कवि का समय है। आचार्य शुक्ल ने भी इन्हें १७१६ में मंगदसिंह के यहाँ वर्तमान स्वीकार किया है।

इस संवत् की छानबीन आवश्यक है। अब्दुर्रहीम खानखाना की प्रशस्ति में लिखा हुआ मंडन का यह कवित्त इनके रचनाकाल पर विचार करने की सामग्री प्रदान करता है—

तेरे गुन खानखाना दरत दुनो के कान
    यह तेरे कान गुन अपनी धरत हैं।
तू तो खग्ग खोलि खोलि खलन पै कर लेत
    लेत यह तोपै कर, नेक ना डरत है।
'मंडन सुकवि' तू चढ़त नव खंड पर,
    यह भुजदंड तेरे चढ़ियैं रहत है।
ओहती अदत खान साहब तुरुकमान,
    तेरी या कमान तोसों तेहु सी करत है।

अब्दुर्रहीम खानखाना की मृत्यु फाल्गुन सं० १६८३ वि० में हुई थी। ऐसी हालत में यह छंद संवत् १६८३ के पहले ही रचा गया रहा होगा और हम १६८० वि० को कवि का रचनाकाल मान सकते हैं। अतः ग्रियर्सन द्वारा स्वीकृत इनका जन्मकाल १६५६ ई० और मिश्रबंधुओं द्वारा मान्य इनका जन्म संवत् १६६० वि० दोनों अशुद्ध एवं भ्रामक हो जाते हैं। मंडन का रचनाकाल संवत् १६५० से सं० १७०० तक माना जा सकता है। सं० १७१६ में तो यह संभवतः जीवित भी न रहे हों। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि सं० १७१६ संभवतः मंडन का अंतिम जीवनकाल हो सकता है और कवि उस समय तक पर्याप्त वृद्ध हो गया रहा होगा।

तुलसी कवि ने 'रसकल्लोल' नामक रस ग्रंथ की रचना सं० १७११ में की थी। इस ग्रंथ में उन्होंने मंडन का भी यह सवैया किलकिंचित हाव (षष्ठ कल्लोल, छंद १७) के उदाहरण में उद्धृत किया है—

मानि सबै मनुहारि बधू, मुसक्याइ हँसै, अँगिआ न उतारै।
'मंडन' डोरि के छोरत हीं, मिसु कै रिस कै अँगुरी गहि मारै।
लला अपनो मनभायो करै, सो चुरी खनकै जब हाथनि झारै।
कोइल सी कुहकै बहकै, सिसकै सतराइ झुकै झिझकारै॥

इस ग्रंथ में उद्धरण होने से भी सिद्ध है कि कवि सं० १७११ के पहले का है, अधिक से अधिक वह इस समय तक अत्यंत प्रसिद्ध, व्योवृद्ध कवि के रूप में जीवित भी हो सकता है। अस्तु, जो भी हो, हम मंडन को विक्रम की सत्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध का ही कवि मानते हैं, विक्रम की अठारहवीं शती के पूर्वार्द्ध का नहीं।

३. मंडन की रचनाएँ

१. रसरत्नावली

यह नायिकाभेद और रससंबंधी ग्रंथ है। इस ग्रंथ का उल्लेख शिवसिंह सरोज मे हुआ है और सभा की खोज मे भी इसकी कई प्रतियाँ मिली हैं—

क. खोज रिपोर्ट १९२०।१०—पं० गंगाप्रसाद शुक्र, असनी, फतेहपुर के पास।

ख. खोज रिपोर्ट १९२६।२६२ ए०—बाबा शिवपुरी, कश्मीरी मुहल्ला, लखनऊ के पास।

ग. खोज रिपोर्ट १९२६।२६२ बी—पं० रघुबीरचरण मिश्र, बिल्हौर, कानपुर के पास।

घ. खोज रिपोर्ट १९२६।२६२ सी—श्री रामभरोसे सिंह, सुलतानपुर, डाकखाना राजेपुर, जिला उन्नाव के पास

ङ. खोज रिपोर्ट १९२६।२६२ डी—श्री ठाकुर विश्रामसिंह, धारानगरी डाकखाना धौरहरा, जिला लखीमपुर।

च. खोज रिपोर्ट १९४१।१७६—श्री बालकृष्णदास, चौखंभा, वाराणसी।

खोज रिपोर्ट १९२६।२६२ बी की पुष्पिका से सिद्ध होता है कि इसमें कुल चार प्रबंध हैं। प्रबंध से अभिप्राय अध्याय से है। खोज रिपोर्ट १९४१।१७६ की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि इस ग्रंथ में कुल २३४ दोहा, कवित्त, सवैया छंद है। इसके प्रारंभ में जो प्रास्ताविक छंद हैं, उनसे कवि के संबंध में कुछ सूचनाएँ मिलती हैं। संभवतः इनके गुरु का नाम गोपाल था—

गुरु गोपाल पै सीख लै, गरे सुमिरनी नाइ।
'कवि मंडन' गाढ़े गहै, रसिकराइ के पाइ॥ १॥

मंडन ब्राह्मण जाति के थे—

कर कर मथ्यौ रसारनौ, 'कवि मंडन' द्विजराज।
काढ़ी रस रतनावली, भाषा कबि के काज॥ २॥

कवि मंडन ने ग्रंथ को विस्तार से लिखने का कारण भी दिया है—

कवि जन जानौ चाहिए, जो रस कवित को सार।
'कवि मंडन' यह जानि कै, रच्यो ग्रंथ विस्तार ॥ ३

कवि ने ग्रंथरचना का यह कारण दिया है—

बिसई लोगनि कैसहू, उपजै हरि सो प्रीति।
'कवि मंडन' यह जानि कै, बरनत हैं रस रीति ॥ ४

ऊपर उद्धृत चारो दोहे खोज रिपोर्ट १६२६।२६२ ए से लिए गए हैं। १६४१।१७६ प्रति के आदि का एक ही दोहा उद्धृत है, उसमें भी इनके गुरु का नाम गोपाल ज्ञात होता है, पर वहाँ यह कुछ संदिग्ध है, क्योंकि दोहे मे 'ग' का अनुप्रास मिलाया गया है और भ्रम होता है कि गुरु अलग पद है और गोपाल अलग पद—

गुरु गुपाल गोकुल गिरा, गोबर्द्धन गगनेस।
'मंडन' गोधर गंग-सुन, गिरिजा गिरिस गनेस ॥

१६२०।१०३ वाली खंडित प्रति के आदि (वस्तुतः मध्य) का जो प्रथम उदाहरण दिया गया है, वह भी कुछ सूचनाएँ देता है—

इहिं भाँति 'मंडन' निरमई रस-सिंधु ने रतनावली
श्री रसिकराय मया करैं, सुनि आपनी बिरदावली
आठो अवस्था सहित सिगरो, ग्रंथ पूरन करि दयो
दस गुनो गुन सों गुह्यो यह, सुप्रबंध सब पूरन भयो ॥ ६५

कवि का आश्रयदाता कौन था, इसका उल्लेख ग्रंथ में अवश्य हुआ है, जैसा कि १६२०।१०३ के प्रति के विषय विवरण में उल्लिखित है, पर किसी भी प्रति के विवरण में संबंधित अंश उद्धृत नहीं है। प्रतियों की पुष्पिकाओं मे भी आश्रयदाता का उल्लेख नहीं हुआ है।

२६२६ वाली खोज रिपोर्ट मे कवि परिचयवाले प्रकरण मे पृष्ठ ६३ पर रस-रत्नावली को नवरस विषयक किसी संस्कृत ग्रंथ का हिंदी रूप कहा गया है। इस निष्कर्ष का आधार संभवतः निम्नांकित अवतरण है—

कर कर मथ्यौ रसारनौ कवि मंडन द्विजराज।
काढ़ी रस रतनावली, भासा कवि के काज ॥

—१६२६।२६२ ए

इसी ग्रंथ मे मंडन ने अन्यत्र भी लिखा है—

इहिं भाँति 'मंडन' निरमई रस-सिंधु ते रतनावली

तो क्या वह आधार संस्कृत ग्रंथ 'रसार्णव' अथवा 'रससिंधु' है ? संभवतः इन नामों के कोई संस्कृत ग्रंथ हैं ही नहीं। और यह निष्कर्ष कि मंडनकृत रसरत्नावली किसी संस्कृत रसग्रंथ का हिंदी रूप है, ठीक नहीं प्रतीत होता।

२. रस विलास

इस ग्रंथ का उल्लेख पहले शिवसिंह सरोज में हुआ। सरोज के आधार पर ही अन्य इतिहासकार—ग्रियर्सन, मिश्रबंधु एवं आचार्य शुक्ल इसका उल्लेख करते आए हैं। यह ग्रंथ अभी तक खोज में नहीं प्राप्त हो सका है।

सभा की खोज रिपोर्ट १९२३।२६५ में मंडन के एक ग्रंथ का विवरण है। यह ग्रंथ खंडित है—आदि से भी, अंत से भी। इसमें कुल ८ पन्ने हैं। इसका विवरण देते समय इस खंडित ग्रंथ का एक कल्पित नाम 'शृंगार कवित्त' दे दिया गया है। नाम काल्पनिक है, इस बात की सूचना देने के लिये नाम के आगे प्रश्न वाचक चिह्न लगा दिया गया है। परंतु कवि परिचय देते समय इसे न जाने कैसे रसरत्नावली स्वीकार कर लिया गया है—

> मंडन इज द आथर आव् नेमलेस एरौटिक बुक, आव् हिच ऐन इनकंप्लीट मैनस्क्रिप्ट वाज फाउंड। अपैरेंटली द नेम वाज रस-रत्नावली नोटिस्ड इन एस० आर० १९२०–२२ अंडर नं० १०३।

मेरी समझ से यही कवि का 'रस विलास' नामक ग्रंथ है। आचार्य शुक्ल ने रसविलास को भी रसरत्नावली की ही भाँति रस ग्रंथ समझ लिया है। पर यह ठीक नहीं प्रतीत होता। यह रससंबंधी कोई रीति ग्रंथ न होकर कवि के फुटकर शृंगारी कवित्त सवैयों का संग्रह मात्र है। इस ग्रंथ में संभवतः ३१ या ३२ कवित्त सवैये हैं। खोज रिपोर्ट में जो विषय विवरण दिया गया है, उसमें आठ पूर्ण विराम हैं, जो कि सूचना देते हैं और एक एक पद, एक एक कवित्त सवैया का विवरण लेनेवाले छंद का दिया हुआ शीर्षक है। इस विषय विवरण का विश्लेषण यों किया जा सकता है—

प्रथम पन्ना—१. गर्विता, २. लज्जावती, ३. प्रेमगर्विता, ४. प्रेमखंडिता, ५. रूप गर्विता।

द्वितीय पन्ना—६. मानिनी मुग्धा, ७. विरहिनी, ८. मानिनी, ९. पतिव्रता।

तृतीय पन्ना—१०. पतिव्रता का मान, ११. सौभाग्यवती, १२. शीलवर्णन, १३. मुख रूप वर्णन।

चतुर्थ पन्ना—१४. आँख और भौंह की शोभा, १५. अभिमान वर्णन। १६. जोग वर्णन।

पंचम पन्ना—१७. मोह वर्णन, १८. दानवीर, १९. कीर्ति, २०. दयावीर।

षष्ठ पन्ना—२१. करुण रस, २२. वीर रस, २३. वीभत्स रस, २४. रौद्र रस।

सप्तम पन्ना — २५. हास्यरस, २६. भयानक रस, २७. शांत रस।

अष्टम पन्ना—२८. कुच, २६. अज्ञात यौवना, ३०. लंक, ३१. जंघा।

इस ग्रंथ से खोज रिपोर्ट मे कुल पाँच छंद उद्धृत हैं, जिनके प्रतीक ये हैं —

आदि के दो छंद

१. मानि सबै मनुहारि वधू मुसक्याइ हँसै अंगिया न उतारै

२. बातनि ही कछु आजु सहेलिनु स्याम को रूप अमोलिक आंक्यो

अंत के तीन छंद

१. एरी मेरी कौल की कली सी बिकसित जब (नाभि वर्णन)

२. जौन अंग देख्यो सो तो गढ़ि सो धर्यो है माई (लंक वर्णन)

३. करी ही की सूंड़ि सो कहत अनदेखे कवि (जंघा वर्णन)

१६२०।१०३ मे जिस रत्नावली का विवरण है, उस जिल्द मे दो पुस्तकें प्रतीत होती हैं। प्रारंभ मे 'रसरत्नावली, है, जो आदि मे खंडित है। अंत मे दूसरी पुस्तक है जो 'रसविलास' है, यह अंत मे खंडित है। अर्थात् इस जिल्द मे प्राप्त रसरत्नावली का अंतिम अंश पूर्ण है और रसविलास का प्रारंभिक अंश। यह निश्चय इसलिये करना पड़ रहा है कि इस ग्रंथ के अंतिम अंश के रूप मे जो दो कवित्त उदाहृत हैं, वे नखशिख संबंधी है, जब कि रसरत्नावली का अंत रस के उदाहरण कवित्तों से होना चाहिए। इस प्रति के अंत के दोनों छंदों के प्रतीक ये हैं—

१. मंडन जराइवारी बाजनी करधनी को (नितंब वर्णन)

२. करी ही की सूंड़ि सी कहत अनदेखे कवि (जंघा वर्णन)

इधर मुझे वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन में एक हस्तलेख देखने को मिला है, जिसकी ग्रंथ-संख्या ४५८८४ है। इसमे कुल १७ पन्ने हैं। प्रथम छह पन्नों में मंडन के नखशिख संबधी कवित्त हैं। नखशिख वाला ग्रंथ आदि मे खंडित है, अंत में पूर्ण है। इसमे ३१ संख्यक छंद का केवल असंपूर्ण चौथा चरण है और कवित्त ३२-४४ पूर्ण हैं। ग्रंथ चवालीसवें कवित्त पर समाप्त हो जाता है। समाप्ति की सूचना कई 'श्री' लिखकर दी गई है। इस खंडित प्रति में कवित्तों का प्रतीक यह है—

१।३१ (अंतिम अंश) देखियत दोर के दमामे दोउ सोते के— कुच वर्णन

२।३३ ए री मेरी कौन की कली सो बिगसति जब —ढुंढी या नाभि वर्णन

३।३३ जौनें अंगु देखिये सो गढ़ि से धर्यो है आनो —लंक वर्णन

४।३४ मंडन जरायबारी बाजती करधनी को —नितंब वर्णन

५।३५ करह कों सुंडि सी कहत अनदेखे कवि —जंघा वर्णन

६।३६	भौंहुरी सुढार चढ़ी उतरि सुठौन ठई	—पींडुरी वर्णन
७।३७	आंखि मूँदि आभा ज्यौं उदोत ही के देखिये त्यौं	—एँड़ी वर्णन
८।३८।	राते राते राते कोंवरे खरेई तेरे पाम प्यारी	—पाँव वर्णन
९।३९	अमी की अमर मूरि कौन देखी मेरी आली	—चरणांगुलिवर्णन
१०।४०	प्यारी मेरे जान है तू सोन की अमर बेलि	—सर्वांग वर्णन
११।४१	जोबन की जोति के से चिनगा जे किलकत	—सर्वांग वर्णन
१२।४२	कौंल ही के केसर की गात को गुराई अरु	—पद्मिनी वर्णन
१३।४३	पार्यान में ऐसे नीके लच्छन हैं तेरे जानौं	—सौभाग्यवती वर्णन
१४।४४	'मंडन' सिंगार सब काज की सभारि अरु	—शीलवती वर्णन

खोज रिपोर्ट १९२३।२६५ में प्राप्त प्रति के जो अंतिम छंद उद्धृत हैं, वे सरस्वती भवन वाली ऊपर वर्णित पोथी के कवित्त ३२, ३३, ३५ है। इस प्रकार उन खोज रिपोर्टवाली प्रति जहा समाप्त होती है, प्रायः वहीं सरस्वती भवन वाली पोथी प्रारंभ होती है। दोनों को मिलाकर 'रसविलास' को पूर्ण किया जा सकता है। खोजवाली (१९२३।२६५) पोथी पंडित कमलाकात, जिमासो, जिला रायबरेली के पास है।

१९२०।१०३ में प्राप्त प्रति के जो अंतिम दो छंद उद्धृत हैं, वे सरस्वती भवन वाली पोथी के छंद ३४ और ३५ हैं। इस प्रति से भी मंडन के रसविलास को पूर्ण एवं संपादन करने में सहायता मिल सकती है। इसमें भी रसविलास का पूर्वार्द्ध होना चाहिए।

३. नयनपचासा

इस ग्रंथ का उल्लेख शिवसिंह सरोज में हुआ है। सरोज के ही आधार पर हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने इसका उल्लेख किया है। खोज में अभी तक यह ग्रंथ नहीं मिला है। 'रसविलास' के प्रकरण में पीछे वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के सरस्वती भवन के हस्तलेख ४५८८४ का विवरण दिया गया है। इस हस्तलेख के प्रारंभ के छह पन्नों में आदि से खंडित नखशिखवाला वह ग्रंथ है, जिसे मैंने रसविलास सिद्ध किया है। पन्ना ७ और ८ सादे हैं। पन्ना ९ से पन्ना १७ के प्रथम पृष्ठ तक इसमें 'नेत्र पंचाशिका' नामक ग्रंथ है। यह ५० दोहों का ग्रंथ है। इन दोहों में नेत्रों का बहुविध वर्णन है। यह सरोज का नैनपचासा है। इस लेख के अंत में यह संपूर्ण ग्रंथ किंचित शोधित रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

४. जनकपचीसी

तासी ने मंडन के प्रकरण में इस ग्रंथ का सर्वप्रथम उल्लेख किया है। तासी के अनुसार इस ग्रंथ में सीताराम विवाह के २५ छंद हैं और उक्त १६ पृष्ठों का लघु ग्रंथ मैनपुरी से प्रकाशित हुआ था।

यह ग्रंथ सभा को खोज में भी मिल चुका है—१६०६।७२। खोज के अनुसार इसमें किरीटधारी राम का २५ चौबोलों में वर्णन है। प्रत्येक छंद का अंतिम चरण यह है—

कहैं 'मंडन' श्रीपति मुकुट धरे, हम देखे राम जनकपुर में

इस ग्रंथ की एक एक प्रति लाला देवीप्रसाद मुतसद्दी, छतरपुर और लाला कामताप्रसाद, बिजावर के पास है।

५. जानकी जू को ब्याह

यह ग्रंथ सभा की खोज में मिला है। इसका विवरण खोज रिपोर्ट १६०६ में ७५ संख्या पर है।

६. बारामासो

यह ग्रंथ भी सभा की खोज में मिला है। देखिए खोज रिपोर्ट १६०१।२६५— यह ग्रंथ कवित्त सवैयों में है और याज्ञिक संग्रह, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी में सुरक्षित है।

७. पुरंदर माया

यह ग्रंथ सभा की खोज में मिला है। देखिए १६०६।२६१। यह इंद्रजाल-संबंधी ग्रंथ है (पुरंदर=इंद्र + माया = जाल)। यह बाबू सीताराम समारी, कला अध्यापक, हाई स्कूल, पन्ना के पास था। इस ग्रंथ के कर्ता का नाम मणिमंडन (मिश्र) है।

४. मंडन नाम के दो भिन्न कवि

मिश्रबंधु विनोद के अनुसार मंडन नामक दो कवि हुए हैं। एक तो प्रसिद्ध शृंगारी मंडन हैं, दूसरे बैसवाड़ी में पदरचयिता मंडन। मिश्रबंधुओं की ऐसी विचारधारा मिश्रबंधु विनोद, प्रथम संस्करण के समय सन् १६१४ ई० के आस पास थी। इसका खंडन करते हुए १६२० की खोज रिपोर्ट में (प्रकाशनकाल १६२६ ई०) कविपरिचय के अंतर्गत पृष्ठ ८४ पर लिखा गया है—

'द मिश्रबंधुज, हाइल क्रेडिटिंग द पोएट विद् द आथरशिप आव् जनकपचीसी डिस्क्रेडिट ए सांग फ्राम इट ऐंड असाइन इट टु ऐनदर मंडन आन द ग्राउंड दैट द सांग वाज इन बैसवाड़ी डायलेक्ट ऐंड मंडन बीइंग ए बुंदेलखंडी कुड नाट हैव बीन इट्स आथर। दे सीम टु हैव फारगाटेन दैट विलेजर्स एडाप्ट ए सांग आव् एनी डायलेक्ट इन देयर ओन। दस मकराकृत कुंडल कानन मैं, हम देखे रामजनकपुर मैं (वाइड ७२–ए पेज २०१ आव् एस० आर० १६०६–०८ कुड इन ए बैसवाड़ी माउथ ईजिली बिकम—

अरे हां हां हां अरे हां हां हां।
मकराकृत कुंडल कानन मां।
हम दयाखा राम जनकपुर मां॥

हिच द मिश्रबंधुज़ हैव कोटेड ऐज़ हर्ड बाइ देम एंड आन हूज़ बेसिस दे रिजेक्ट द आथरशिप आव् मंडन आर मणिमंडन हिच इज़ सेड टु हैव बीन द फुल नेम आव् द बुंदेलखंडी पोएट, द फार्मर बीइंग यूज़्ड इन पोएम्स ऐज़ नौम दे गुरे। द पोएटिक मेरिट आव जनकपचीसी इज इन्फीरियर टु दैट आव् रसरत्नावली, बट देयर इज़ नथिंग ऐट प्रेज़ेंट टु शो दैट देयर वेयर टू डिस्टिंक्ट मडनज।'

मिश्रबंधु विनोद द्वितीय संस्करण मे मिश्रबंधुओं ने खोज रिपोर्ट के तर्क को स्वीकार करके कल्पित बैसवाड़ी मंडन को अस्वीकार कर दिया है।'

इसी प्रकार कुछ लोग पुरंदर माया के रचयिता मणिमंडन मिश्र को रस-रत्नावली आदि के रचयिता मंडन से भिन्न मानते हैं।[1] मेरी समझ से मंडन और मणिमंडन मिश्र एक ही व्यक्ति हैं। आश्रयदाता की विभिन्नता से कवि की विभिन्नता बहुत आवश्यक नहीं। एक कवि का अनेक राजदरबारों से संबंधित होना प्रायः देखा गया है। ऐसी स्थिति मे मंगदसिंह और गौड़ क्षत्रिय राजा केशरीसिंह के आश्रय मे रहनेवाले मंडन एवं मणिमंडन एक ही है।

इतना सब होते हुए भी हिंदी मे दो मंडन हैं। 'नवीन' ने अपने सुप्रसिद्ध काव्यसंग्रह 'सुधासर' के अंत मे एक ही नाम के अनेक कवियों की विभेदात्मक सूची दी है। इस सूची में नवीन ने दो मंडन स्वीकार किए हैं। एक तो प्राचीन मंडन हैं, जो जैतपुरी या बुंदेलखंडी मंडन हैं। यही हिंदी साहित्य मे प्रसिद्ध हैं और इन्हीं का विवेचन इस निबंध में हुआ है। दूसरे मंडन को जयपुर के लाल कवि का नाती कहा गया है। जयपुर के यह लाल कवि प्रसिद्ध कृष्ण भट्ट हैं जिनको कविकलानिधि की उपाधि प्राप्त थी और जो काव्य मे अपनी छाप 'लाल' रखते थे। इन लालकवि का जीवनकाल संवत् १७२६-१८०६ वि० है। इनके नाती मंडन का रचनाकाल संवत् १८२५ विक्रमी के आसपास हो सकता है। इस प्रकार दोनो मंडनों के समय में प्रायः सौ सवा सौ वर्षों का अंतर है। इन दूसरे मंडन के काव्य से हिंदी संसार अनभिज्ञ है।

१. माधुरी दिसंबर १९२० में कविचर्चा स्तंभ के अंतर्गत 'मंडन' नामक लेख, पृ० ७५-२६ और माधुरी जून १९२८ में उसी कविचर्चा स्तंभ के अंतर्गत 'हिंदी के कुछ कवियों के विषय में टिप्पणियाँ' शीर्षक लेख, पृ० ६६२-६३।

४. नयन पचासा

श्री करतार सहाय

श्री गुरु गुपाल पैं सीख लै, गरें सुमिरिनी नाय।
'कवि मंडन' गाढ़ैं गहे, रसिक राय के पाय ॥१॥

'मंडन' राधा-किसन के, मन धरि मदन-बिलास।
नवल नागरी नैंन पैं, दोहा किये पचास ॥२॥

पेम - नखासे नागरी, हियें तुरंग बिकात।
लोइन तेरे लाहरी, ऊपर हीं लै जात ॥३॥

छिन छिन भाव नये नये, 'कवि मंडन' उर आनि।
बरजैं नैन न मानहीं, लोक बेद की कानि ॥४॥

डीठि-डोरि सौं मन-कलस, काम - कुवा मैं डारि।
नैंना तेरे नागरी, भरैं पेम - रस - बारि ॥५॥

नागरि चढ़ि तुव नेह-हय, झाँकि पूतरी नारि।
उमगि पेम पारैं दई, पेम - कुवा मैं डारि ॥६॥

काजर कैं मिस नागरी, चखनि चखौंड़ा देति।
'मंडन' डीठि लगाइ कैं, औरनि को ज्यो लेति ॥७॥

खरे डरारे चरपरे, कजरारे अमनैंक।
नैन अन्यारे नागरी, न्यारे करि जिनि नैंक ॥८॥

तेरे नैननि नागरी बिच कच काम दँदोरि।
उरझायो मन बापुरो, 'मंडन' रस की डोरि ॥९॥

दोहा संख्या के अनुसार मुख्य शब्दों के अर्थ—

१. गुपाल—मंडन के गुरु का नाम प्रतीत होता है। रसिकराय = श्री कृष्ण।
२. मदन बिलास = कामकेलि, रँगरली।
३. पेम = प्रेम। नखासे = पशुओं विशेषकर घोड़ों का बाजार। लोइन = लोचन। लाहरी=
४. बरजैं = वर्जन करने पर। कानि = मर्यादा।
७. चखौंड़ा = आँख में काजल लगाना।
८. अमनैंक = न माननेवाले। अन्यारे = अनीवाले, नोकीले। न्यारे = अलग
९. दँदोरि = द्वंद्व, संघर्ष।

जे कछु टोने टामने, करे कामरू नारि।
नागरि तेरे नैन पै, नोना चढ़ो चमारि ॥१०॥

मेहु-मदन बरसे रसहिँ, 'मंडन' दिय-तन चाहि।
नैन-पपीहा नागरी, ज्यो के प्यासे आहि ॥११॥

नेह भरे रस सौं पगे, मन - लाडू गिलि जात।
नैनौं तेरे नागरी, तऊ न नैक अघात ॥१२॥

दिये झुलाय दुलार सौं, मन पलना मैं मैन।
नेह - तिलौंछे नागरी, लाल - लाडिले - नैन ॥१३॥

नैन पारखी नागरी, तुरँग रसीले नैन।
गूँगेई समुझैं भलैं, गूँगे ही की सैन ॥१४॥

चुंबक मनि तुव नैन हैं, नागरि मेरे जान।
'मंडन' मेरे चितु चुहकि, लाग्यो लोह समान ॥१५॥

नागरि मेरे जान तुव, कनक कसौटी नैन।
पेम-हेम की लीक ज्यौं, कोरे इनिमैं ऐन ॥१६॥

कुटिल भौंह तुव नागरी, तिनि कछु सिखये नैन।
तब लपटाने नेह के, अब लागे दुख दैन ॥१७॥

पेम पगे, रस के लगे, मद रँगमगे बिसाल।
नैन लगत तुव नागरी, ठौर ठगे नँदलाल ॥१८॥

पेम - पथ, तुव नैन - ठग, नागरि लेत बुलाइ।
'मंडन' बन्हन मन कैं, मारहि मनहि भुलाइ ॥१९॥

१०. टोने टामने = जादू टोना। कामरू = कामरूप, कामाख्या। नोना = एक लोकविश्रुत चमारिन जिसे टोना सिद्ध था।
११. मेहु मेघ, बादल। ज्यो = जीव, प्राण।
१२. लाडू = लड्डू। गिलि जात = निगल जाते हैं।
१३. तिलौंछे = तेल लगाए हुए।
१५. चुहकि = खिंचकर।
१६ ऐन = ठीक, निश्चित रूप से।
१८. ठौर = स्थान पर।
१९. बन्हन = बंधन, फंदा।

नैन - मीन तुव नागरी, गहि कटाछ के जाल।
'मंडन' मन - ढीमरु बँध्यो, पेम - सुधा कैं ताल ॥२०॥
नागरि तेरे नैन - नट, चढ़ि कटाछ की डोरि।
अरग थरग नाँचैं निडर, तार तिरोछे तोरि ॥२१॥
'कवि मंडन' इक टक रहैं, बदन - चंद की ओर।
बिरह-आगि-अँगिरा चुगैं, नागरि नैन - चकोर ॥२२॥
'मंडन' जित जित जात हैं, तित तित छाव छहैं न।
हियो - लकरिया लै उड़ैं, हारिल - नागरि - नैन ॥२३॥
मन न घट्यो, तन ना भिद्यो, 'मंडन' गई न हूक।
नागरि नैन-कपोत क्यौं, हियो कियो द्वै टूक ॥२४॥
मोर तुरत आड़े उड़त, ऊँचे नीचे होत।
गिरहबाज रस - गयन मैं, नागरि - नैन कपोत ॥२५॥
'मंडन छिन-छिन ठानि कै, आँखिन सौं रति-रारि।
नागरि तुव लोइन - चिरा, नैकु न माने हारि ॥२६॥
हियो - पखेरू, पेम-पथ, उड़त न पावै चैन।
झपटि लेत हैं बाज लौं, नागरि तेरे नैन ॥२७॥
कियो बटाऊ पेम पथ, पगु नहिं पावै दैन।
गहि मारत हैं नागरी, पसिया तेरे नैन ॥२८॥
नैन - कचोरनि नागरी, भखो मैन - मद आहि।
'कबि मंडन' मन छकि रह्यौ, नैसक परसत जाहि ॥२९॥
नैन - चोर तुव नागरी, मन - मड़हा मैं पैठि।
'मंडन' लै सब नेह-निधि, रहे कोठहीं बैठि ॥३०॥

२०. ढीमरु = धीमर, धीवर, मल्लाह, मछुवा।
२१. अरग थरग = थिरक थिरकर। तार तोरि = तान तोड़ते हुए, गति लेते हुए।
२३. छाव = छाया।
२५. गयन = गगन, आकाश।
२६. रारि = संघर्ष। चिरा = चिरौंटा, नर चिड़िया।
२८. पसिया = पाश धर, जालवाला शिकारी।
२९. कचोरनि = कटोरों में। मद = मधु, शराब।
३०. मड़हा = छप्पर। कोठहीं = कोठे पर।

मन - कोठा सोयो मदनु, पैठि जगावत ईठ।
'मंडन' नागरि नैन-जन, भये निपट ही ढीठ ॥३१॥

'मंडन' मन चटसार मैं, चटिया जुरी अनंगु।
नागरि तेरे नैन - गुरु, कहा सिखायो ढंगु ॥३२॥

मधुप, ममोले, मीन म्रिग, सुभग सरोज सँवारि।
नागरि तेरे नैन पै, डारि दये विधि वारि ३३॥

नलिन मलिन किये नागरि, तेरे लोइन लोल।
अरु चकोर चेरे किये, किये ममोले मोल ॥३४॥

दियो बयानो नागरी, नैक बिलोकि बिलोल।
तुव लोइन 'मंडन' हियो, मोल लियो बिनु मोल ॥३५॥

मदन चढ़्यो मो मन-तुरी, 'मंडन' सजि सब सैन।
कोतल ह्वै नाँचत चले, नागरि तेरे नैन ॥३६॥

चढ्यो नचावतु नागरी, चंचल नैन अनंग।
अजौं कहा कोतल रहे, तो मन तरल तुरंग ॥३७॥

पेम - तिमिर कौं नागरी, चसमा तेरे नैन।
सब सूझे जब ये मिलैं, इन बिनु सूझतु है न ॥३८॥

मन - अहेरिया मारि यौं, रस बस पेम - पहार।
ढीठ भये तुव नागरी, द्रिग - मृग करैं सिकार ॥३९॥

'मंडन' आवे आपुही, हृदय - पतंग समीप।
नेह बढ़ावै नागरी, नैंना तेरे दीप ॥४०॥

नागरि तुव नैननि कियो, बाजीगर के आम।
पान लगे, फूले, फरे, कामु न आयो काम ॥४१॥

३१. जन = सेवक। ३२ चटसार = पाठशाला। चटिया = चेला चाटी, शिष्य।

३३. ममोले = खंजन का बच्चा। वारि = निछावर करके।

३५. बयानो = बयाना, सौदा खरीदने के पहले बिक्री को निश्चितता देने के लिये अग्रिम दिया गया धन।

३६. कोतल = सवारी में न लाया जानेवाला भविष्य के लिये सुरक्षित घोड़ा।

३८. चसमा = देखने के लिये आँख पर लगाया जानेवाला चश्मा।

३९. अहेरिया = आखेटक, शिकारी।

४१. पान = पत्ता।

नागरि तेरे नैन - मुनि, नयो उपायो जोगु।
देखत ही तारे लगे, विरह कहत सब लोगु ॥४२॥

कामदेव को व्रत लियो, नेह - नदी मैं नाहि।
तेरे नैननि नागरी, जीव - दया कछु नाँहि ॥४३॥

पेम - जाल मो मन रच्यो, नागरि बहुत उपाय।
कियो फँदा तुव नैन को, फँदे आपुहीं जाय ॥४४

कैसी है तुव नागरी, नैन - बान की रीति।
मन मैं 'मंडन' गड़ि रहैं, तासौं इनसौं प्रीति ॥४५॥

सादे 'मंडन' मन रहे, नागरि नैसिक जोहि।
तुव लोइन अंजन धरै, लेहि निरंजन मोहि ॥४६॥

जोबन के रे मद मते, अरु अलसाने जोर।
घूमत - नागरि- नैन लखि, घूमत है मन मोर ॥४७॥

सुरझाये सुरझे नहीं, कासौं करौं निहोर।
तुव नैननि की कोर मैं, उरभि रह्यो मनु मोर। ४८॥

मदन - भूप के पारधी, नागरि तेरे नैन।
जिनिकैं लीयैं कछु नहीं, मन - कुरंग कौं चैन ॥४९॥

'कवि मंडन' देख्यौ सुन्यौ, बधिकनि बँध्यौ कुरंग।
नागरि तेरे नैन - मृग, बांध्यौ बधिक - अनंग ॥५०॥

नेत्र पंचाशिका

*

४२. तारे लगना = समाधिस्थ होना, ध्यानावस्थित होना।
४३. नाहि = नहाते हैं।
४७. मते = मतवाले बने हुए। घूमत = घूर्णित, चक्कर खाता हुआ।
४८. कोर = किनारा, तट।
४९. पारधी = बहेलिया।

नंददास द्वारा संकेतित और व्यवहृत काव्यसिद्धांत

विश्वनाथ त्रिपाठी

सूरदास के बाद कृष्णभक्त कवियों में सर्वाधिक काव्यप्रयोग नंददास ने किए हैं। अष्टछाप के कवियों में भी सूर के बाद उन्हें ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। नंददास ने अपने काव्यसंबंधी विचारों को इतनी स्पष्टता के साथ रखा है कि वे अपने संप्रदाय के काव्यप्रयोक्ता ही नहीं, काव्यसिद्धांत प्रवक्ता भी कहे जा सकते हैं। इनके द्वारा व्यक्त काव्यसंबंधी विचारों का मूल्य कृष्णकाव्य की मूल प्रवृत्तियों की विवेचना की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

नंददास की चौदह रचनाएँ प्रामाणिक मानी गई हैं--१. रासपंचाध्यायी, २. भागवत दशम स्कंध, ३. भ्रमरगीत, ४. रूपमंजरी, ५. रसमंजरी, ६. विरह-मंजरी, ७. अनेकार्थमंजरी, ८. नाममंजरी, ९. रुक्मिणीमंगल, १०. श्यामसगाई, ११. सिद्धांतपंचाध्यायी, १२. गोवर्धनलीला, १३. सुदामाचरित्र तथा १४. मुक्तक पदावली।[1]

इनमें से रासपंचाध्यायी में रासलीला वर्णित है। सिद्धांत पंचाध्यायी का विषय भी रास ही है पर इसके १३८ रोला छंदों में १०० सिद्धांतविषयक हैं। पाँच मंजरी काव्यों में अनेकार्थमंजरी के १२० तथा मानमंजरी के २६५ दोहे नंददास कृत माने गए हैं।[2] यद्यपि ये अपने ढंग के शब्दकोश हैं पर प्रत्येक दोहे या शब्दपर्यायों के अंत में काव्य भी है। रूपमंजरी एक काल्पनिक खंडकाव्य है, जिसमें रूपमंजरी और कृष्ण का मिलन विरह वर्णित है। रसमंजरी नायक-नायिका-भेद निरूपक ग्रंथ है। इसमें हाव, भाव और हेला आदि का भी वर्णन है। पं० उमाशंकर शुक्ल के मतानुसार यह भानुदत्त की रसमंजरी के पद्यमय उदाहरणों का रूपांतर मात्र है। मूल रसमंजरी के व्याख्यात्मक गद्यभाग को इसमें छोड़ दिया गया है।[3] विरहमंजरी में

१. नंददास ग्रंथावली नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, भूमिका पृ० २६।

२. वही, पृ० ३८

३. नंददास ग्रंथावली प्रथम भाग, विश्वविद्यालय, प्रयाग, पृ० ६३। उद्धरणों के लिये भी प्रयुक्त।

गोपियों का विरह वर्णित है। भ्रमरगीत उद्धव-गोपी-संवाद है। रुक्मिणीमंगल में कृष्ण और रुक्मिणी का विवाह तथा श्यामसगाई में कृष्ण तथा राधा की सगाई की परिस्थितियाँ वर्णित हैं। भागवत दशम स्कंध, भागवत की कुछ कथाओं का भाषा-रूपांतर है।

इनके अतिरिक्त गोवर्धनलीला तथा सुदामाचरित्र भागवताश्रित आख्यान हैं। नंददास के कुछ मुक्तक पद भी हैं जो सूरसागर की भाँति ही विविध राग रागिनियों मे आबद्ध हैं। इस प्रकार बहुविध काव्यप्रयोग, नंददास की एक महत्वपूर्ण विशेषता प्रतीत होती है।

काव्यरूप

नंददास की उक्त १४ कृतियों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

१. खंडकाव्य श्यामसगाई, सुदामाचरित्र, रूपमंजरी, रुक्मिणीमंगल, रासपंचाध्यायी।

२. एकार्थकाव्य—गोवर्धनलीला, भ्रमरगीत, सिद्धांतपंचाध्यायी।

३. रीतिग्रंथ—रसमंजरी, विरहमंजरी।

४. कोशकाव्य—अनेकार्थमंजरी, नाममंजरी।

५. गीति काव्य—मुक्तक पद।

६. रूपांतरित या भाषांतरित काव्य—भागवत दशम स्कंध।

कोशकाव्य एक मिश्रित नाम है। नंददास की अनेकार्थमंजरी और नाम-मंजरी को हम विशुद्ध कोशग्रंथ नहीं कह सकते। इनमें काव्य भी है, अतः इनके दोनों रूपों की अभिव्यक्ति के लिये इन्हें कोशकाव्य कहना ही उपयुक्त प्रतीत होता है। विरहमंजरी, रसमंजरी की भाँति विशुद्ध रीतिग्रंथ नहीं है। विरह के प्रत्यक्ष, पलकांतर, वनांतर और देशांतर जैसे नूतन भेदों को स्पष्ट करने के लिये ही उसकी रचना हुई है।

स्वयं नंददास की उक्तियों के आधार पर उनकी कृतियों को लीलाकाव्य, गीतिकाव्य, मंजरीकाव्य, चरितकाव्य, मंगलकाव्य तथा अध्यायीकाव्य के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।

काव्यहेतु—कृष्ण-भक्ति-काव्य में विविध काव्यरूपों के प्रयोग को देखकर ही यह अनुमान हो जाता है कि वे प्रतिभा के धनी थे। नंददास संस्कृतज्ञ थे, असंस्कृतज्ञों के लिये ही उन्होंने अनेकार्थमंजरी और नाममाला की रचना की है—

उचरि सकत नहिं संस्कृत, अर्थं - ज्ञान असमर्थं ।
तिन हित नंद सुमति जथा, भाषा कियो सुअर्थं ॥ अने० ३ ॥[४]

रसमंजरी, इसी नाम के संस्कृत ग्रंथ का रूपांतर है, अतः यह भी उनके संस्कृत ज्ञान का द्योतक है। इन्होंने गुरुकृपा को भी काव्यसृजन का एक हेतु माना है।[५] कृष्ण की वंदना करते हुए नंददास ने उन्हें परम गुरु कहा है।[६] इस प्रकार गुरुदेव की कृपा से उद्भूत प्रतिभा, संस्कृतादि के अध्ययन से व्युत्पत्ति तथा अभ्यास आदि काव्यहेतुओं को वे स्वीकार करते हैं।

अपने विविध काव्यग्रंथों की रचना के बाह्य प्रेरक तत्वों का भी उन्होंने उल्लेख किया है—

परम रसिक इक मीत मोहि तिन आज्ञा दीन्ही।
तातें मैं यह कथा जथामति भाषा कीन्ही॥
रास पं० १६।

एक मीत हम सों अस गुन्यो, मैं नाइका भेद नहि सुन्यो।
रसमंजरी ग्रंथा०, पृ० १२६।

परम विचित्र मित्र इक रहै, कृष्ण चरित सुन्यौ सो चहै।
तिन कही दशम स्कंध जु आहि, भाषा करि कछु बरनौं ताहि॥
ग्रंथा० पृ० १८६।

मित्रों का आग्रह भी नंददास के काव्यसृजन का प्रेरक तत्व रहा है। अज्ञों या संस्कृत से अनभिज्ञों को काव्यतत्व सिखाने की भावना भी कुछ ग्रंथों के सृजन की प्रेरणा रही है। प्रेमपद्धति के स्पष्टीकरण की कामना ने रूपमंजरी की रचना की प्रेरणा दी।[७] सिद्धांतपंचाध्यायी भी रासरस के स्पष्टीकरण की ही उपज है। हरि भक्ति और लीलागान की प्रेरणा उन्हें अपने गुरु और अष्टछाप के अन्य कवियों से मिली। अतः नंददास के काव्यहेतुओं को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है--

४ द्रष्टव्य—नाममाला-२ भी।
५. श्री गुरु चरन सरोज मनावौं। गिरि गोवरधन लीला गावौं।
ग्रंथा०, पृ०, १६७।
६. तम्नमामि पद परम गुरु, कृष्ण कमल दल नैन। ग्रंथा०, पृ० ६६।
७. परम प्रेम पद्धति इक आही। नंद जथामति बरनत ताही॥ ग्रंथा, पृ० १०३।

अंतः हेतु--प्रतिभा,[८] व्युत्पत्ति, अभ्यास (सिद्धांतनिरूपण और ज्ञानदान का उल्लास)।

बाह्य हेतु—काव्य रसिक, मित्रों का आग्रह।

काव्य प्रयोजन--नंददास कृष्णभक्त कवि हैं, अतः उनके काव्य का मुख्य प्रयोजन भी हरि-लीला-गान है।[९] आनंद उसका दूसरा प्रयोजन है जो भक्तिरस का प्राण है।[१०] काव्यरसिक मित्रों के आग्रह से लिखी गई कृतियों का प्रयोजन भी सत्संग या गोष्ठीजन्य आनंद ही है। अन्य गौण प्रयोजनों का समावेश इन्हीं तीन में किया जा सकता है। नंददास के काव्यप्रयोजन विषयक संकेत निम्नलिखित हैं—

१. अघ हरनी, मन हरनी, सुंदर प्रेम वितरनी।
नंददास के कंठ बसौ, नित मंगल करनी॥
रा० पं०। ग्रं०पृ० २०।

२. नाहिंन कछु शृंगार कथा इहि पंचाध्यायी।
सुंदर अति निरवृत्त परा तें इती बड़ाई॥
सि० पं०। ग्रं० पृ० ३३।

३. नंददास सौं नंद सुवन जो करुना कीजै।
तिन भक्तन की पदपंकज रस सों रुचि दीजै॥
वही, पृ० ४०।

४. राजिव नाभि गोविंद की होइ रहिए मन लीन॥
ग्रं० पृ० ४८।

५. तेल सनेह सनेह घृत बहुरो प्रेम सनेहु।
सो निज चरनन गिरधरन नंददास कहँ देहु॥
ग्रं० पृ० ५४।

६. कीलाल जु जमत्रास ते छुटै भजैं गोविंद।
ग्रं० पृ० ५७।

७. बिन जाने घनस्याम के आवागमन न जाइ।
तातें हरि गुरु वैष्णवन, भज निसि दिन चितलाइ॥
ग्रं० पृ० ६३।

८. चली मनावन भारती, वचन चातुरी काम। अने० ८॥ भारती कृपा प्रतिभा के स्फुरण का हेतु है।

९. हरिदासन को संग करै, हरि लीला गावै। रा० पं०। ग्रं० पृ० ३०।

१०. परम कांत एकांत भगति रस तौ भल पावै। वही पृ० ३०।

८. परम प्रेम पद्धति इक आही।
नंद जथामति बरनत ताही॥
ग्रं० पृ० १०३।

९. तदपि रंगीले प्रेम तें निपट निकट प्रभु आहि॥
ग्रं० पृ० १२५।

१०. रस परसे बिन तत्व न जाने॥
ग्रं० पृ० १०१।

११. रूप प्रेम आनंद रस, जो कछु जग में आहि।
सौ सब गिरधर देव कौं, निधरक बरनौ ताहि॥
ग्रं० पृ० १२६।

१२. इहि विधि यह रस मंजरी, कही जथामति नंद।
पढ़त पढ़त अति चोप चित, रसमय सुख को कंद॥
ग्रं० पृ० १४१।

१३. नंददास पावन भयौ सो यह लीला गाय॥
ग्रं० पृ० १६६।

१४. गिरि गोवरधन लीला गावौं॥
ग्रं० पृ० १६७।

१५. पावन गुन गावन रति दीजै॥
ग्रं० पृ० १६८।

१६. नंददास अपने प्रभु कौ नित मंगल गावे॥
ग्रं० पृ० १८५।

१७. अब चतुर्थ अध्याइ सुनि, परम अर्थ कौ दैन॥
ग्रं० पृ० २०१।

पापनाश, मनहरण, प्रेमवितरण, मंगलकरण, शृंगार कथा के आध्यात्मिक रूप का वर्णन, भक्तों को हरिचरण-कमल-रस का दान, मन की लीनता, प्रभुचरण-स्नेह, यमत्रास से मुक्ति, हरि का स्वरूपनिरूपण, हरिभजन, प्रेमपद्धति का यथामति वर्णन, रसस्पर्श से तत्वज्ञान, प्रेमाभिव्यंजन, कृष्ण के रूप, प्रेम और आनंदरस का निधड़क वर्णन, रसजन्य सुख के उल्लास की प्राप्ति, लीलागान द्वारा स्वयं को पावन बनाना तथा पावन गुणगान के प्रति रति और परमार्थ की उपलब्धि को नंददास ने अपने काव्यों का प्रयोजन घोषित किया है। इन प्रयोजनों में से **'रस परसे बिन तत्व न जाने'** तो कृष्णभक्त कवियों की काव्योपासना की मूल धारणा को स्पष्ट करने में अधिक समर्थ है। तत्वज्ञान की उपलब्धि के लिये ही कृष्णभक्त कवि रसमार्ग

ग्रहण करते हैं। केवल रसोपलब्धि उनका प्रयोजन नहीं है अपितु रसमार्ग से तत्त्वज्ञान और तज्जन्य मुक्ति या परमार्थ की प्राप्ति ही उनका लक्ष्य है। इसी लिये यथामति लीलागान में सभी भक्त कवि प्रवृत्त होते है। इन सभी प्रयोजनों को समन्वित रूप से देखने पर मम्मट के काव्यप्रयोजनों में से व्यवहार या साधना की जानकारी, अमंगल का नाश, मंगल का अभ्युदय, मुक्ति और उपदेशदान के ही यहाँ दर्शन होते हैं, यश और अर्थप्राप्ति के नहीं।

काव्यफल- नंददास ने अपने खंडकाव्यों में फलश्रुति का संकेत किया है। इसे परंपरापालन मात्र कहा जा सकता है पर उन्होंने कोशकाव्यों में भी इसका निर्देश किया है। रासपंचाध्यायी के रूप में हरि लीलागान का फल है भक्तिरस,[११] सिद्धांत-पंचाध्यायी का फल है विषयरस से मुक्ति,[१२] अनकार्थमंजरी के अध्ययन का फल है परमार्थ,[१३] नाममाला अध्ययन का फल है आवागमन से त्राण,[१४] रूपमंजरी का फल है प्रभु का सान्निध्य,[१५] रसमंजरी के अध्ययन का फल है चित्त का उल्लास,[१६] विरहमंजरी का फल है सिद्धांततत्त्व की उपलब्धि,[१७] भ्रमरगीत का फल है पावनता,[१८] गोवर्धनलीला का फल है पावनरति,[१९] स्यामसगाई का फल है प्रेमरस,[२०] रुक्मिणी-मंगल का फल है मंगलप्राप्ति;[२१] सुदामाचरित का फल है भक्ति और मुक्ति।[२२] भागवत दशम स्कंध के प्रत्येक अध्याय के अंत में फलनिर्देश तो है ही अंतिम दोहे में सभी अध्यायों के पाठ का फल कलिमल ध्वंस बताया गया है। नंददास की पदावली मुक्तक गीतों का संग्रह है पर उनके भी एक पद में फलनिर्देश है—

११ रा० पं० पद ११८।
१२. सि० पं० पद १३८।
१३. अ० मं० दोहा ५८।
१४. ना० मा० दोहा २६४।
१५. रू० मं० दोहा ५६४।
१६. र० मं दो० ३३१।
१७. वि० मं० १०२ दोहे की अंतिम चौपाई।
१८. भ्र० गी० पद ७५।
१९. गो० ली० अंतिम पंक्ति।
२०. स्या० स० पद २८।
२१. रु० मं० दो० १३२।
२२. सु० च० अंतिम पंक्ति।

ज्यौं हो हिये हरि चरित्र अमृत सिंधु सों रति मानी।
नंददास ताही कुं मुकती लोन को सो पानी॥

पद १६१ ॥

प्रेम या भक्ति रस इसी जीवन में प्राप्त होनेवाले फल हैं, परमार्थ या मुक्ति इस जीवन के उपरांत। फलनिर्देश भक्तिकाल की पौराणिक काव्यशैली के एक मान्यताप्राप्त तथ्य की अभिव्यंजना है।

काव्यसिद्धांत– **रस-भक्ति रस**– नंददास अपनी प्रेमा भक्ति के कारण भक्ति रस को ही भक्तिकाव्य का मुख्य प्रयोज्य सिद्धांत मानते हैं। इनके सभी काव्यों में रस, रसिक, रास, संयोग वियोग, भावभेद तथा नायिकाभेद को वर्ण्य विषय बनाया गया है। इनकी रसवादिता मे कोई संशय नहीं है। रस के अनेक रूपों का उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है—हरिलीला रस,[२३] कृपारंग रस,[२४] कृष्णरसासव,[२५] रास रस[२६] उज्ज्वल रस,[२७] अधरसुधा रस,[२८] अद्भुत रस,[२९] वचन रस,[३०] उपपति रस,[३१] प्रेम-सुधा रस[३२] हरि रस,[३३] आदि के नाम से नंददास ने जिस रस की ओर संकेत किया है वह भक्तिरस ही है।

नायक—संपूर्ण मध्यकाल मे नायक को रसिक, नागर आदि शब्दों से अभिहित

२३. रा० पं० २ अ० १।
२४. वही पद ५।
२५. वही पद २।
२६. वही पद ४२, सि० पं० ११ और १३७।
२७. रा० पं० अ० १ पद ७१; अ० ५ पद ४०।
२८. वही ५/८४।
२९. वही पद ५।२२, ३०, परि० ८६, सि० पं० १३४।
३०. रा० पं० ५।२।
३१. रसनि मैं जो उपपति रस आही। रस की अवधि कहत कवि ताही॥
रूप म० पृ० १०६।
३२. भूल छिये मदिरा पिये, सब काहू सुधि होय।
प्रेम सुधा रस जो पिवै, तेहि सुधि रहै न कोय। रूप मं० पृ० १२१।
३३. कहत भयौ निश्चै यहै हरि रस की निज पात्र।
भ्रमर गीत मं० पृ० १६३।

किया गया है। नंददास के कृष्ण भी रासरसिक,[३४] रसिकपुरंदर[३५] आदि हैं। वे मन्मथ के भी मनमथ हैं।[३६]

नायिका—नंददास ने रसमंजरी में नायिकाभेद का विस्तृत निरूपण किया है। प्रयोग की दृष्टि से भी रासपंचाध्यायी, विरहमंजरी, रूपमंजरी, रुक्मिणीमंगल और स्यामसगाई में विविध प्रकार की नायिकाओं के दर्शन होते हैं। कुछ प्रयोगों के स्थल निम्नलिखित हैं—

मुग्धा—**ये सब नवल किसोरी भोरी भरीं नेह रस।**
तातें समुझि न परी करी पिय प्रेम विवस अस॥

रा० पं० परि० १६।

नवोढ़ा—**नेह नवोढ़ा नारि कौं बारि बारुका न्याय।**
थलराये पै पाइये, नीपीड़े न रसाय॥

रूप मं० ५ १।

रतिश्राता—**सगबगि अलकैं श्रमकन झलकैं।**
सोहति पोक पगी दृग पलकैं॥

रूप मं० ५०१।

संयोग—रसप्रयोगों में शृंगार के सयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का चित्रण नंददास के काव्यों में मिलता है। सयोग शृंगार को आध्यात्मिक रूप देने के लिये और सगुणसाधना की प्रेमपद्धति को स्पष्ट करने के लिये इन्होंने रूपमंजरी और कृष्ण का मिलन स्वप्न क्षेत्र में कराया है। यहाँ सुरति रस तक का वर्णन है। नंददास का यह शृगारवर्णन सूफियों के शारीरिक और निर्गुण भक्तों के भावमिलन से सर्वथा विलक्षण है।

वियोग—नंददास ने विरह को चार प्रकार का माना है—प्रत्यक्ष, पलकांतर, वनातर और प्रवास। इनमे से अंतिम दो को प्रवासविरह में संहृत किया जा सकता है, पर आरंभ के दो भेद नददास की अपनी सूझ हैं। इन दोनों का प्रयोग रासपंचाध्यायी में हुआ है। प्रत्यक्ष विरह संभ्रमजन्य है। प्रीतम के अंक में पौढ़ी राधा प्रेम की लहर में ललिता से पूछ बैठती हैं कि मेरे लाल कहाँ हैं—

३४. रा० पं० १।२८।
३५. वही १।३२।
३६. वही ४।३।

संभ्रम भई कहत रस बलिता। मेरे लाल कहाँ री ललिता॥

विरहमंजरी ग्रं० पृ० १४२।

पलकांतर विरह प्रियदर्शन के समय पलक गिरने के व्याघात से उत्पन्न होता है—

सो सुख व्रज अवलोकन करैं। तब जु आइ बिचि पलकैं परैं॥

वि० मं० ग्रं० पृ० १४३।

अन्य रस—नंददास ने शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों में अद्भुत रस का कई बार उल्लेख किया है। इनके मतानुसार विस्मयभाव भक्तिरस का बोधक या पोषक है। वीर रस के चार पद रुक्मिणीमंगल में मिलते हैं, पर वहाँ उनकी उपस्थिति कथापूर्ति के लिये प्रतीत होती है। वहाँ रसपरिपाक नहीं है। इन्होंने विपक्षी जरासंध आदि को बावला कुत्ता बना दिया है अतः ऐसे प्रतिपक्षियों के साथ युद्ध में वीर रस के परिपाक का प्रश्न ही नहीं उठता—

महासिंह के पाछे कूकन कूकर बोरे। रु० मं० ग्रं० पृ० १२३।
देखे रिपुदल भारे, तब बलदेव संभारे।
मद गज ज्यौं सर पैठि कमल कौ दलि मलि डारै॥

वही ग्रं० पृ० १२४।

यह कृष्ण भक्तों की प्रकृति के अनुकूल भी नहीं है।

महान् काव्यप्रयोक्ता—प्रबंध काव्य की दृष्टि से रूपमंजरी पर सूफी काव्य-शैली का प्रचुर प्रभाव है। सूफियों की प्रेमपद्धति से सगुण कृष्णभक्तों की प्रेमपद्धति की भिन्नता प्रदर्शित करना इसका लक्ष्य है। इसी में नंददास ने अपने काव्यसंबंधी विचार बड़ी स्पष्टता से रखे हैं। ये विचार निम्नलिखित हैं—

प्रभु परम ज्योतिर्मय और प्रेममय है। वह सौंदर्यनिधि है और उसका सौंदर्य परम पावन है। कवि उसे नित्य कहते हैं। प्रभु के परम प्रेम की एक पद्धति है। नंद यथामति उसका वर्णन करते हैं। इसके श्रवण और मनन से मन सरस बनता है। सरस होकर ही वह रस वस्तु का स्पर्श कर सकता है। रसस्पर्श के बिना तत्वज्ञान नहीं होता। भ्रमर के अतिरिक्त कमल को कौन पहचान सकता है। परमात्मा घट घट में व्यापक है। जिस तरह अनेक घटों में पृथक् पृथक् रखे जल में एक चंद्र अनेक दिखता है उसी तरह सभी शरीरों में परमात्मा। मन की निर्मलता, ब्रह्म के इस प्रतिबिंब को अधिक तेजस्विता के साथ दिखला सकती है। जैसी स्पष्ट छाया मानसरोवर में दिखाई पड़ती है वैसी क्षुद्र छीलर में नहीं। सूर्यकांत मणि ही तरणि किरण से प्रभावित होती है न कि सभी पत्थर।

प्रभु के चरणकमल की प्राप्ति के लिये कवियों ने अनेक मार्ग कहे हैं, उनमें यह एक सूक्ष्म मार्ग है। संसार में नादअमृत का जैसा मार्ग है, सौंदर्यसुधाकर का मार्ग

भी वैसा ही है। क्षीर-नीर-विवेकी ही इस मार्ग से प्रभुपद की प्राप्ति कर सकता है। दर्शनेंद्रिय से अतीत कमल का अन्वेषण तो उसकी सुगंधि से ही किया जा सकता है।

नंददास रसमयी सरस्वती को प्रणाम करते हुए यह वर माँगते हैं कि वह ऐसे अक्षर दे, जिनमें सुंदर कोमल और अनूठे वचन बनें, जो कहने सुनने और समझने में अत्यंत मिठास से भरे हों। वे न अति व्यक्त हों न अत्यंत गूढ़।[३७] कवि अपने मन में यही गुनता है कि मेरी कविता कोई नीरस व्यक्ति न सुने। रसहीन व्यक्ति काव्य के जिस अक्षर को भी सुन लेता है, वह अक्षर स्वयं अपना सिर धुनने लगता है। अंधे के लिये किसी बाला की स्मिति, कटाक्ष और लज्जा का क्या मूल्य है? बधिरपति के लिये सुरति सीत्कार की सफलता क्या है? कवि के अक्षर और कामिनी के कटाक्ष सहृदय हृदय में ही अच्छी तरह लगते हैं। जिस हृदय पर अक्षर रस का प्रभाव नहीं होता वह अर्जुन के बाण से भी नहीं बिध सकता। कवि उसे पाषाण समझते हैं। ऐसा कोई पत्थर भी नहीं जिससे उस हृदय की तुलना हो सके।

रूपमंजरी के वर्णन को नंददास प्रभु का यश मानते हैं। यह यशरूपी रस जिस कवि में नहीं है, वह स्वयं भित्तिचित्र के सदृश है। जिस कविता में हरियश रस नहीं है, उसके सुनने से क्या फल मिलेगा। शठ नायक यदि काठ की पुतली के साथ सोए भी तो उसे क्या सुख मिलेगा?[३८] रस से अनभिज्ञ कवि नीरस होता है, वह अज्ञ और व्यालबाल सदृश होता है।[३९]

केवल पांडित्य भक्तिरस के महत्व को समझने में असमर्थ है। पंडित तो 'पंचाध्याई' को शृंगार ग्रंथ मान लेंगे। वास्तविकता यह है कि वे हरि रस के भेद को नहीं समझ पाते, न शृंगार और भक्ति के भेद का ही उन्हें ज्ञान है। वे तो हरि को भी विषयी मान लेंगे--

जे पंडित शृंगार ग्रंथ मत यामैं सानैं।
ते कछु भेद न जानैं हरि को विषयी मानैं॥

सि० पं० ४६।

हरि रस अनिर्मल मन और पाप पुण्य के प्रारब्ध से संचित तन में पचता ही नहीं है--

पुण्य पाप प्रारब्ध सँच्यौ तन नाहिं पच्यौ रस॥

रा० पं० १।५१।

३७. तुलनीय पृथ्वीराज रासो के आरंभ में व्यक्त चंद के 'अति ढंक्यो न उघार' पद से।

३८. रूपमंजरी की आरंभिक ३५ पंक्तियाँ।

३९. वही, पंक्ति ६८।

नंददास द्वारा व्यक्त कवि, सहृदय, पंडित, शृंगार और भक्ति के अंतर आदि संबंधी विचार इतने स्पष्ट हैं कि उनपर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। वे रसवादी हैं और शृंगार की उपयोगिता हृदय को सरस बनाने के लिये मानते हैं जिससे सरस हृदय भक्तिरस को निर्मल भाव से ग्रहण कर सके। विविध प्रसंगों पर नंददास ने अधिकारी,[40] अनधिकारी,[41] अकथकथा[42] लीला,[43] रहस्य[44] आदि के संबंध में भी विचार व्यक्त किए हैं। इन सभी शब्दों का मध्यकालीन काव्यालोचन की प्रक्रिया में अपना विशेष महत्व था।

आलंबन के सौंदर्यपक्ष पर बल देने तथा भक्तिरस को भी काव्य की रसरीति पर प्रतिष्ठित करने के कारण तत्कालीन काव्यसमीक्षकों की कटु आलोचना के पात्र ये भक्त कवि भी बने होंगे। इनमें शृंगार रस की सत्ता ही स्वीकार की गई होगी। नंददास के पूर्व भी कुछ रीतिग्रंथ लिखे गए थे। इनमें कृपाराम को हिततरंगिणी और मोहनलाल मिश्र का शृंगारसागर उल्लेखनीय है। करणेश बंदीजन, बलभद्र मिश्र और आचार्य केशवदास भी नंददास के समकालिक थे। इनके कुछ समय बाद ही रहीम ने बरवै नायिका भेद लिखा। डा॰ भगीरथ मिश्र ने लिखा है कि 'कृपाराम के वर्णन से तो ज्ञात होता है कि उनके समय तक और ग्रंथ भी रस रीति पर लिखे जा चुके थे। कृपाराम का आधार भरत का नाट्यशास्त्र है। यह रस रीति (नायिका भेद) पर लिखा गया ग्रंथ पाँच तरंगों में है।[45] ... अंत में स्वाधीनपति का आदि नायिकाओं के दस भेदों से स्पष्ट होता है कि उसमें भानुदत्त का भी आधार है, क्योंकि भरत ने इनके केवल आठ भेद दिए हैं दस नहीं।'[46] भरत मतानुयायी निश्चय ही भक्तिरस को शृंगार में अंतर्भूत करते हैं। नंददास ने भानुदत्त की रसमंजरी का आधार लेकर भी 'यथामति' या अपनी स्वतंत्र दृष्टि के अनुसार ही नायिकाभेद प्रस्तुत किया है। इसका प्रयोजन भी वे प्रेमसार का विस्तार ही मानते हैं।[47] धर्म के

४०. ग्रं॰ पृ॰ १६, पद ३४।

४१. वही, पृ॰ २६; पद ७२।

४२. अकथ कथा मनमथ बिथा तथा उठी तन आगि।
किहि विधि राखै क्यों रहै, रूई लपेटी आगि॥ रूप मं॰ १८०।

४३. ग्रंथा॰, पृ॰ १६७, १८५।

४४. ताहू मैं पुनि अति रहस्य यह पंचाध्याई। रा॰ पं॰ १।१५।

४५. नंददास ग्रंथा॰, उमाशंकर शुक्ल, भूमिका, पृ॰ ६३।

४६. हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास—भगीरथ मिश्र, पृ॰ ५०–५१।

४७ रस मंजरी अनुसार कै, नंद सुमति अनुसार।
बरनत बनिता भेद जहँ, प्रेम सार विस्तार॥ र॰ मं॰।

अनुसार स्वकीया, परकीया और सामान्या भेद को तो इन्होंने ले लिया है पर स्वभाव के अनुसार उत्तमा, मध्यमा अधमा भेदों का इन्होंने उल्लेख भी नहीं किया। रसमंजरी मे भी विवेचनात्मक अंश छोड़ दिए गए हैं और लक्षण तथा उदाहरण अत्यंत स्पष्टता से प्रस्तुत किए गए हैं। विरहमंजरी संदेशकाव्य है पर प्रत्यक्ष और पलकांतर विरह नंददास की मौलिक देन हैं जो भक्ति रस को चमत्कारपूर्ण सिद्ध करते हैं।

नंददास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन, उनकी विविध काव्यशैलियों के प्रयोग की है। तुलसी के अतिरिक्त उस समय के किसी भी अन्य कवियों ने इतने काव्यप्रयोग नहीं किए हैं। विविध छंदों के प्रयोग मे भी वे पीछे नहीं रहे हैं। उनकी कोमलकांत-पदावली का आश्रय पाकर रोला और भी संगीतमय हो उठा है। कोशकाव्यों के लिये उन्होंने दोहा अपनाया है। तीनो मंजरी काव्यों के लिये उन्होंने तत्कालीन आख्यान या चरितकाव्यों की भाँति दोहा चौपाई की कडवक शैली का प्रयोग किया है। रूपमंजरी के एक गाथा के प्रयोग से यह भी स्पष्ट होता है कि इसमें अपभ्रंश काव्यों की चरितशैली का ध्यान रखा गया है। वह गाथा है—

गुणि गण गुणाण गणियं मझामगा विहँग मारेहा।
तिय रस पेम पमाणं जाणं जीवणं जपियं जीहा॥

रू० मं० ५१५।

विरहमंजरी मे सोरठे भी है। भ्रमरगीत मे रोला, दोहा और दस मात्रिक टेक से एक नए मिश्र छंद का प्रयोग किया गया है। स्यामसगाई की शैली भी यही है पर इसमें लोकगीत के तत्व अधिक हैं। पदावली मे—सरसी, सार, चौपई, विष्णुपद, चौपाई, सोरठा, दोहा और सवैया तथा मिश्र छंदो का प्रयोग मिलता है, यद्यपि ये पद राग रागिनियों मे गेय हैं। रूपमंजरी मे ऋतुवर्णन तथा विरहमंजरी मे बारहमासा का प्रयोग तत्कालीन काव्यरूढ़ियो के अनुकूल है।

नंददास जैसे रसवादी कवि के लिये अलंकार साधन रहे हैं, साध्य नहीं। स्वाभाविक रूप मे आए अलंकारों मे उत्प्रेक्षा के प्रयोग मे उनकी निपुणता दर्शनीय है। अप्रस्तुत योजनाओं में भी सौदर्यबोध का प्रभाव झलकता है।[४८] शुकदेव और कृष्ण के रूपचित्रण मे उनके व्यक्तित्व को प्रतिबिंबित किया गया है। प्रकृति को उन्होंने शुद्ध सात्विक उद्दीपन के रूप मे ग्रहण किया है। शैली और छंदों के विविध प्रयोग करते हुए भी नंददास ने स्वय अपने दृष्टिकोण के अनुसार भाषा के माधुर्य और उसकी सरसता को कहीं भी नहीं छोड़ा है।

४८. नंददास की अप्रस्तुत योजना के लिये द्रष्टव्य—व्रजभाषा के कृष्ण काव्य में अभिव्यंजना शिल्प. सावित्री सिनहा, पृ० २७२-२६०।

अपनी काव्य-संबंधी मान्यताओं में नंददास अत्यंत स्पष्ट थे। काव्यशास्त्र-मर्मज्ञ होते हुए भी वे उदार भक्त कवि थे।[४९] वे महान् संगीतज्ञ थे[५०] और सफल काव्यप्रयोक्ता भी, क्योंकि अष्टछाप के किसी भी कवि ने काव्यप्रयोग में यह विविधता प्रदर्शित नहीं की है। उनके सभी काव्यप्रयोग उन्हें रससिद्ध कवि घोषित करते हैं।



४९. राम कृष्ण कहिये उठि भोर। पदा० २, १।

५०. इनकी पदावली में ३० रागों का प्रयोग हुआ है। गीतों में छंदप्रयोग के लिये द्रष्टव्य — अ० का० अभि० शिल्प, पृ० ४१५-११७।

शिवराजभूषण का रचनाकाल

हरिप्रसाद नायक

शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' में महाकवि भूषण की चार रचनाओं की चर्चा है—१. शिवराज भूषण, २. भूषण हजारा, ३. भूषण उल्लास और ४. दूषण उल्लास, जिसमें 'शिवराजभूषण' को छोड़कर अन्य तीनों ग्रंथ अद्यावधि अनुपलब्ध हैं। 'शिवराज भूषण'* के अलावा 'शिवा बावनी' तथा 'छत्रसालदशक' नाम के दो ग्रंथ भी खोज में मिले हैं जिनके विषय में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि ये दोनों ग्रंथ कवि भूषण की स्वतंत्र रचनाएँ हैं अथवा किसी अन्य ग्रंथ के खंडमात्र हैं। कुछ फुटकर पद भी मिले हैं जिनकी संख्या लगभग ५४ है।

भूषण की उपलब्ध रचनाओं में 'शिवराजभूषण' ही स्वतंत्र एवं पूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में कवि ने छत्रपति शिवाजी महाराज का यशगान किया है और यह ग्रंथ भूषण (श्लेष—१. अलंकार और २. कविभूषण) का है। इस तरह ग्रंथ का नाम 'शिवराजभूषण' अथवा 'शिवभूषण' बड़ा ही समीचीन है क्योंकि यह नाम नायक, कवि तथा विषय तीनों का द्योतक है।

'शिवराजभूषण' शिवाजी के जीवन की प्रमुख घटनाओं से अलंकृत है। इस ग्रंथ को प्रबंधकाव्य नहीं कहा जा सकता है। यह एक स्फुट काव्य ही है, क्योंकि इसका प्रत्येक छंद अपने में स्वतंत्र है—एक पद का दूसरे पद से कोई आनुपूर्वी संबंध नहीं है। इसमें कालक्रमानुसार घटनाओं का वर्णन नहीं है, इसी लिये श्री भगीरथ प्रसाद दीक्षित ने अपना मत प्रकट किया है कि इस ग्रंथ की रचना शिवाजी के दरबार में नहीं हुई—यह बहुत बाद की रचना है (भूषणविमर्श)।

'शिवराजभूषण' में कवि भूषण ने प्रायः वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग किया है। इससे इतना तो निश्चित है कि भूषण शिवाजी के समकालीन थे। इस ग्रंथ में बहुत सी घटनाओं का ऐसा वर्णन है जिससे यह प्रमाणित होता है कि कवि ने इस ग्रंथ का प्रणयन शिवाजी के समय में रायगढ़ (राजधानी) में रहकर किया था।

* इस लेख में छंदों की क्रमसंख्या मिश्रबंधु कृत भूषण ग्रंथावली के पंचम संस्करण के आधार पर है।—लेखक

भूषण और शिवाजी को समकालीन मानने के विरोध में दीक्षितजी ने काफी परिश्रम किया है। पर मतपुष्टि के हेतु बहुत ही निर्बल आधारों का सहारा लिया गया है। भूषण और शिवाजी को समकालीन मानने में दीक्षित जी क्यों अपनी असहमति प्रकट करते हैं, समझ में नहीं आता।

'शिवराजभूषण' का निर्माण कवि भूषण ने शिवाजी के जीवनकाल मे किया था। शिवाजी के पोते शाहू के समय शिवाजी महाराज का यशोगान कवि कैसे कर सकता है? वर्तमानकालिक क्रिया के प्रयोग से भूषण को शाहू का समकालीन कैसे माना जा सकता है? शिवराजभूषण काव्य ग्रंथ है, कोई नाटक नहीं है जहाँ क्रिया के वर्तमानकालिक रूप का ही प्रयोग होता है। कवि-वंश-वर्णन के अंतर्गत कवि ने लिखा है— **सिव चरित्र लखि यों भयो कवि भूषन के चित्त। २६।** इस दोहांश से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कवि ने शिवाजी के चरित्र को लखि (देखकर) इस ग्रंथ के बनाने का विचार किया था, कोई सुनकर नहीं। यह निश्चित है कि शिवाजी के समीप रहकर ही रायगढ़ मे शिवाजी के अनुपम व्यक्तित्व की प्रेरणा से इस ग्रंथनिर्माण के लिये कवि प्रेरित होता है। यहाँ भी 'लखि' शब्द वर्तमानकाल का द्योतक है। इसी लिये दीक्षितजी का विचार अमान्य है। दीक्षितजी के विरोध मे मिश्रबंधु ने जो अपनी राय 'महाकवि भूषण का समय'[1] शीर्षक लेख मे प्रकट की है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कवि भूषण पर मिश्रबंधुओं का परिश्रम श्लाघनीय है।

'शिवराजभूषण' का समाप्तिकाल विक्रम संवत् १७३० है, इसमे मतविभिन्नता नहीं है। संवत् १७३० विक्रमी के किस मास मे इस ग्रंथ की समाप्ति हुई थी, इस विषय पर विचार करने के पूर्व इस ग्रंथ के निर्माणारंभकाल पर विचार करना अपेक्षित है।

मिश्रबंधु के मतानुसार कवि भूषण ने 'शिवराजभूषण' के निर्माण का प्रारंभ विक्रम सत्न १७२४ मे कर दिया था। लेखकद्वय (श्यामविहारी मिश्र और शुकदेव बिहारी मिश्र) ने लिखा है—

'शिवाजी सन् १६६६ मे आगरे गए थे और वहाँ से लौटकर घर तक पहुँचने मे उन्हे नौ मास लगे थे। अतः यदि इस समय के पहले भूषणजी शिवाजी के यहाँ पहुँचे होते, तो इन नौ मासों के बीच मे हतोत्साह होकर वे घर लौट जाते। उन्होंने सन् १६७३ ईसवी में शिवराजभूषण समाप्त किया, और जान पड़ता है कि सन् १६६७

१. सुमनोञ्जलि : द्वितीय खंड, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

ई० में ही उसका निर्माण प्रारंभ कर दिया था, क्योंकि ग्रंथारंभ ही में ही तीन बड़े प्रभावशाली छंदों मे शिवाजी के दिल्लीश्वर से साक्षात्कार का वर्णन है।'[२] परंतु 'शिवराजभूषण' के कुछ छंदों के आधार पर मिश्रबंधु के कथन की मान्यता संदिग्ध है। रायगढ़ वर्णन में महाकवि भूषण के ये छंद द्रष्टव्य हैं –

जा मधि तीनिहु लोक कि दीपति ऐसो बड़ो **गढ़राय** विराजै।
वारि पताल सी माची मही अमरावति की छवि ऊपर छाजै ॥१५॥
मनिमय महल सिवराज के इमि **रायगढ़** में राजहीं।
लखि जच्छ किन्नर असुर सुर गंधर्व्व होंमनि साजहीं ॥१६॥
भूषन सुवास फल फूल युत छहूँ ऋतु बसत बसंत जहँ।
इमि **राय दुग्ग** राजत रुचिर सुखदायक सिवराज कहँ ॥२३॥
तहँ नृप रजधानी करी जीति सकल तुरकान।
शिव सरजा रुचि दान मे कीन्हो सुजस जहान ॥२४॥
देसन देसन ते गुनी आवत जाचन ताहि।
तिनमें आयो एक कवि भूषन कहियतु जाहि ॥२५॥
कुल सुलंक चितकूटपति साहस सील समुद्र।
कवि भूषन पदवी दई हृदयराम सुत रुद्र ॥२८॥

रायगढ़ संबंधित उपर्युक्त दोहों से ऐसा आभास मिलता है कि छत्रपति शिवाजी के किसी समारोह में याचक के रूप मे कवि भूषण रायगढ़ (राजधानी) आए थे।

शिवाजी के पिता शाहजी भोंसले का देहांत २३ जनवरी सन् १६६४ ई०, शनिवार (तदनुसार वि० सं० १७२१) को हो गया था। पिता की मृत्यु के बाद शिवाजी ने राजा की उपाधि धारण की। कैंब्रिज हिस्ट्री आव् इंडिया के चतुर्थ खंड में लिखा है—

'शार्टली आफ्टर द डेथ आव् हिज़ फ़ादर इन १६६४, ही अश्यूम्ड ऐट रायगढ़ द टाइटिल आव् राजा ऐंड स्ट्रक क्वाएंस इन हिज़ ओन नेम'।[३] इस अवसर पर समारोह का आयोजन शिवाजी ने किया हो तो आश्चर्य नहीं। ऐसी शुभ घड़ी में शिवाजी का दान वगैरह देना असंभव नहीं माना जायगा। शिवाजी के पूर्वज दान देने में बहुत ही प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। शिवाजी के पिता शाहजी की

२. भूषण ग्रंथावली, काशी नागरीप्रचारिणी सभा, सं० १६६६, पृ० ११-१२।
३. द कैंब्रिज हिस्टरी आव् इंडिया, भा० ४, पृ० २७३, एस० चंद ऐंड कं०, दिल्ली।

अपूर्व दानशीलता का वर्णन भूषण ने किया है—**एते हाथी दीन्हें मालमकरंद जू के नंद जेते गनि सकति बिरंच हू की न तिया। १०।**

इस समारोह में कवि भूषण का रायगढ़ आना संभव हो सकता है। परंतु कवि ने तो उपर्युक्त छंद संख्या २८ में तो साफ साफ लिखा है कि कवि को भूषण की पदवी चित्रकूट के सोलंकी राजा किसी हृदयराम सुत रुद्र ने दी थी। मिश्रबंधु के मतानुसार चित्रकूटाधिपति हृदयराम सोलंकी के पुत्र रुद्र ने कवि को 'भूषण' की उपाधि वि० सं० १७२३ के पूर्व प्रदान की थी। इसलिये वि० सं० १७२३ के पूर्व भूषण का शिवाजी के किसी उत्सव में रायगढ़ जाना सम्भव नहीं है।

६ मार्च सन् १६६८ ई०, सोमवार (वि० सं० १७२५) को मुगल बादशाह औरंगजेब ने शिवाजी को राजा की उपाधि दी थी। ऐसी सभावना हो सकती है कि इस खुशी में शिवाजी ने किसी उत्सव का आयोजन रायगढ़ में किया हो और इस उत्सव में भूषण याचक के रूप में आए हों। भूषण चित्रकूटाधिपति के दरबारी कवि थे। ऊपर लिखा जा चुका है कि 'भूषण' की पदवी कवि को वि० सं० १७२३ में मिली थी। पदवी प्राप्त होते ही भूषण तुरंत रायगढ़ चले गए हों, यह ग्रहण करने योग्य नहीं है। शिवाजी द्वारा भूषण आमंत्रित नहीं थे जिसका उल्लेख कवि ने स्वतः किया है। याचक के रूप में ही कवि रायगढ़ गए थे। जबतक चित्रकूट के दरबार में थे, तबतक कवि का दक्षिण जाना, वह भी बिना बुलाए, विश्वसनीय एवं ग्राह्य नहीं कहा जायगा। विक्रम संवत् १७२८ में महाराज छत्रसाल बुंदेला ने शेष बुंदेलखंड के साथ चित्रकूट राज्य पर भी अधिकार कर लिया। इस घटना के बाद ही कवि भूषण का चित्रकूट से संबंधविच्छेद हुआ। उन दिनों छत्रसाल से भूषण का मिलना संभव नहीं माना जा सकता क्योंकि छत्रसाल चित्रकूटाधिपति के दुश्मन थे और अपने आश्रयदाता के दुश्मन के प्रति कवि की सद्भावना रही हो यह अमान्य है। डाक्टर भगवानदास गुप्त ने भी लिखा है—

'भूषण की भेंट छत्रसाल से उनके राज्यकाल के अंतिम वर्षों में हुई थी। छत्रसाल उनकी प्रतिभा से बहुत ही प्रभावित थे और उनका अत्यधिक मान करते थे। भूषण के हृदय में भी मुगलों से डटकर लोहा लेनेवाले बुंदेले अधिपति के लिये कम आदर न था। उन्होंने अपनी कविताओं में छत्रसाल का यशोगान कर उन्हें अमरत्व प्रदान किया।'[४]

४. महाराज छत्रसाल बुंदेला (प्रका० शिवलाल अग्रवाल ऐंड कं० प्रा० लि०, आगरा)—पृ० ११६।

डा० गुप्त के इस कथन से यह निश्चित होता है कि शिवाजी के यहाँ रायगढ़ जाने के बाद ही कवि भूषण छत्रसाल बुंदेला के यहाँ गए। विक्रम संवत् १७८८ में महाराज छत्रसाल बुंदेला का देहात हुआ था। जैसा डा० गुप्त ने ऊपर लिखा है कि 'भूषण की भेंट छत्रसाल से उनके राज्यकाल के अंतिम वर्षों में हुई थी,' इससे इतना तो सिद्ध होता है कि वि० सं० १७६० के बाद ही किसी समय छत्रसाल-भूषण मिलन हुआ।

बुंदेलखंड में चित्रकूट राज्य के विलीनीकरण से भूषण वहाँ से वि० सं० १७२८ में संभवतः अपने जन्मस्थान त्रिविक्रमपुर (तिकवाँपुर)[५] ही आए होंगे और कुछ समय के बाद रायगढ़ के लिये प्रस्थान किया होगा। इसी लिये वि० सं० १७२८ के पूर्व भूषण का शिवाजी के यहाँ रायगढ़ जाना समीचीन नहीं है।

उपर्युक्त पदसंख्या २८ से इतना तो निश्चित है कि जिन दिनों कवि भूषण रायगढ़ आए थे, उन दिनों रायगढ़ शिवाजी की राजधानी थी। रायगढ़ की स्थापना शिवाजी ने कब की थी, इसपर विचार कर लेना आवश्यक है।

औरंगजेब के दरबार में आगरा जाने के पूर्व शिवाजी ने राजगढ़ में अपनी राजधानी बनाई थी जिसकी स्थापना वि सं० १७१६ में हुई थी। उपर्युक्त छंद संख्या १५ (गढ़राय), १६ (रायगढ़) और २३ (रायदुग्ग) में कवि ने 'रायगढ़' का ही उल्लेख किया है, राजगढ़ का नहीं। वि० सं० १७२७ में शिवाजी ने दूसरी बार सूरत को लूटा। इस घटना के बाद ही रायगढ़ के निर्माण कार्य में हाथ लगा जिसका उल्लेख मोहम्मद हाशिम खाफी खाँ कृत 'मुन्तखबुल लुबाब' के प्रथम भाग में है। खाफी खाँ ने लिखा है —[६]

'जब शिवाजी को इस बात का विश्वास हो गया कि उसका पूर्व निवासस्थान राजगढ़ तथा उसके आसपास के प्रदेश पूर्णतः सुरक्षित हैं तो उसने अपने निवास के लिये, एक दूसरे अधिक दुर्गम पहाड़ी स्थान की खोजना प्रारंभ किया। काफी छान-बीन के पश्चात् उसने राहीरी के एक अत्यंत ऊँचे तथा दृढ़ पर्वत पर अपना ध्यान केंद्रित किया। × × × स्थान निश्चित करके उसने दुर्ग का निर्माण प्रारंभ कर दिया। जब उसका प्राकार बनकर पूर्णतः सुरक्षित हो गया तो वह राजगढ़ से वहीं चला गया और इसे ही उसने अपना स्थायी निवासस्थान बना लिया।'

५. यह तिकवाँपुर यमुना नदी के बाएँ किनारे पर जिला कानपुर पर्गना व डाकखाना घाटमपुर में मौजा 'अकबरपुर बीरबल' से दो मील की दूरी पर बसा है।

६. भारतवर्ष का इतिहास (औरंगजेब), इलियट और डाउसन (हिंदी संस्करण), इंडोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी, पृ० ७२–७३।

बाद में इसी राहिरी अथवा रायरी को रायगढ़ का नाम दे दिया गया। शिवाजी ने इसी रायगढ़ (रायरी) को अपनी राजधानी बनाई। ग्रांट डफ ने लिखा है—

'मराठों में एक धारणा यह भी है कि शिवाजी को राजगढ़ से हटाकर रायरी को अपनी राजधानी बनाने की सलाह शाहजी ने ही दी थी, परंतु इतना निश्चित है कि उन्होंने इसी समय उसका नाम रायगढ़ रख दिया था। आवाजी सोनदेव को किले के भीतर ही नागरिक सुविधाओं के लायक भवन बनवाने का आदेश दिया गया। जनता के रहने योग्य आवासों के साथ साथ अपने प्रमुख प्रशासन अधिकारियों के लिये भी आवासस्थान बनवाने का प्रबंध हुआ। इन निर्माणकार्यों में काफी समय लगा।'[७] वि० सं० १७२८ के लगभग रायगढ़ (रायरी) के निर्माणकार्य में हाथ लगा और पूर्ण होने में कुछ वर्ष अवश्य लगे होंगे। इसलिये विक्रम संवत् १७२८ के बाद ही किसी समय भूषण का रायगढ़ आना प्रामाणिक माना जायगा।

भूषण ने जो 'रायगढ़' का वर्णन किया है, उसमें यह पता चलता है कि रायगढ़ में नागरिक सुविधा थी। प्रजा के लिये सुंदर महल थे। शिवाजी की अट्टालिका भी रम्य थी। ग्रांट डफ के अनुसार 'इन निर्माणकार्यों में काफी समय लगा।' इसलिये कवि भूषण वि० सं० १७३० के पूर्व रायगढ़ आए हों, संभव प्रतीत नहीं होता।

रायगढ़ वर्णन के बाद ही ऊपर उल्लिखित दोहा संख्या १५ का क्रम आता है जिसमें कवि ने राजधानी (रायगढ़) में जाने का अपना उल्लेख किया है। बहुत पहले से शिवाजी के अभिषेक की तैयारी विधिपूर्वक रायगढ़ में हो रही थी। इस मंगल समारोह में संमिलित होने के लिये देश के कोने कोने से लोग रायगढ़ में एकत्रित होने लगे। याचकसमूह भी दानप्राप्ति की लालसा से इस समारोह में उपस्थित होने का लोभ संवरण नहीं कर सका। कवि भूषण भी अपने को याचक ही कहते हैं। एक याचक के रूप में ही भूषण का रायगढ़ जाना संभव है। भूषण शिवाजी द्वारा आमंत्रित थे, इसकी पुष्टि भूषण की उपलब्ध रचनाओं से नहीं होती। स्वयं कवि ने इस छंद में लिखा है— **तिनमें आयो एक कवि भूषन कहियतु जाहि।** इससे तो यह ज्ञात होता है कि उन दिनों (रायगढ़ राजधानी जाने के दिनों तक) कवि भूषण सुविख्यात नहीं थे परंतु कवि का नाम 'भूषण' था और कवि इसी नाम से स्मरण किए जाते थे। कवि का असली नाम क्या था, यह अलग विचारणीय है, परंतु

७. मराठों का इतिहास (हिंदी संस्करण), इतिहास प्रकाशन संस्था, इलाहाबाद, पृ० ११४।

'भूषण' इनका नाम नहीं था। यह तो कवि की उपाधि थी जिसके प्रदाता ऊपर वर्णित चित्रकूटाधिपति थे।

शिवाजी की गतिविधि से संपूर्ण भारतवर्ष अवगत था। शिवाजी के जीवन में अफजलवध वाली घटना का बहुत ही प्रमुख स्थान है। इस वध की चर्चा उन दिनों सर्वत्र हो रही थी। अफजल की इस भयंकर दुर्घटना से देश भर में आलोचना और कथा की सृष्टि हुई। अफजल की हत्या से संबंधित गीत और कथाओं के बारे मे इतिहासज्ञ सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है—

'द इंसिडेंट काट होल्ड आव द पब्लिक इमेजिनेशन आव् महाराष्ट्र ऐज़ द मोस्ट ग्लोरिअस ईवेंट इन हिस्टरी आव् द रेस। बैलड्स वेयर कंपोज्ड बाइ द वांडरिंग बार्ड्स (गोंधालीज़) इन रेस्पान्स टु द पापुलर डिमांड, टु सेलिब्रेट द विक्टरी।'[८]

अफजलवध की इस घटना को लोग भुला भी न पाए थे कि शिवाजी द्वारा शाइस्ता खाँ की दुर्दशा की बुरी खबर चारों ओर फैल गई। हिंदू जनता की नजरों में वीर शिवाजी का मान और भी बढ़ गया। शिवाजी के जीवन की प्रमुख घटनाओं में उनका औरंगजेब के दरबार में आगरा जानेवाली घटना का स्थान शीर्ष है। बाबा साहिब देशपांडे ने इस घटना का पूर्ण विवरण दिया है।[९] मुगल बादशाह औरंगजेब के चंगुल से शिवाजी का निकल भागना अनुपम साहस का कार्य था। उन दिनों मुसलमानों का आतंक उत्तरी हिंदुस्तान में विशेष रूप से फैला हुआ था। औरंगजेब की हिंदूविरोधी नीति से हिंदू जनता त्रस्त थी। औरंगजेब ने काशी के सुप्रसिद्ध विश्वनाथ मंदिर एवं मथुरा स्थित केशवराय के विशाल मंदिर (देहरा) को निर्दयतापूर्वक तोड़वा दिया था। हिंदूधर्म संकटापन्न था। ऐसे कट्टर मुगल बादशाह से टक्कर लेना साधारण बात नहीं थी। शिवाजी ही एक ऐसे वीर शिरोमणि थे, जिन्होंने—

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत।
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिंदुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की।
काँधे मैं जनेउ राख्यो माला राखी गर मैं॥
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह।
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर मैं।

८. शिवाजी ऐंड हिज टाइम्स (थर्ड एडि०), पृ० ७०, एम० सी० सरकार ऐंड संस, कलकत्ता।

९. द डेलिवरेंस आर इस्केप आव् शिवाजी द ग्रेट फ्राम आगरा, प्रकाशक: राव साहिब जी० के० देशपांडे, विश्रामधाम, पूना-४।

राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज।
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर मैं॥'

—शिवाबावनी छंद ५१

शिवाजी ने जो जो प्रशंसनीय कार्य किए, उन कार्यों से भूषण का प्रभावित होना सर्वथा स्वाभाविक है। ऐसे वीर व्यक्ति से मिलने की उत्कंठा भूषण को अवश्य रही होगी। उन्हीं दिनों शिवाजी के अभिषेक की चर्चा कवि ने भी सुनी और अपने गाँव से ही रायगढ़ के लिये प्रस्थान कर दिया। सन् १६७४ ई० के मई मास में भूषण का रायगढ़ पहुँच जाना सर्वथा संभव है।

'जीति सकल तुरकान' (छंद २४) से ऐसा संकेत मिलता है कि शिवाजी के राज्याभिषेक के समय कवि भूषण रायगढ़ आए थे। सर जदुनाथ सरकार ने लिखा है—

'शिवाजी ऐंड हिज मिनिस्टर्स हैड लाग फेल्ट द प्रैक्टिकल डिस-ऐडवांटेजेज आव हिज नाट बीइंग ए क्राउंटेड किंग टू हो हैड कार्कड मेनी लैंड्स ऐंड गेदर्ड मच वेल्थ : ही हैड ए स्ट्राग आर्मी ऐंड नेवी ऐंड एक्सर्साइज्ड पावर्स आव् लाइफ ऐंड डेथ ओवर मेन, लाइक ऐन इंडिपेंडेंट सावरेन।'[10]

सरकार महोदय के उपर्युक्त कथन से **जीति सकल तुरकान** का समर्थन होता है।

पुनः छंद संख्या २४ का उत्तरांश है—**शिव सरजा रुचि दान मैं कीन्हीं सुजस जहान।** राज्याभिषेक के शुभ अवसर पर शिवाजी ने अपार धनराशि का दान किया। हेनरी ऑक्सीडेन के वर्णन से इस दान की पुष्टि होती है। इस अभिषेकोत्सव में ऑक्सीडेन भी आमंत्रित थे। शनिवार ६ जून, सन् १६७४ ई० को यह अभिषेक संपन्न हुआ था। इस अभिषेक के एक सप्ताह पूर्व शुक्रवार २६ मई, सन् १६७४ ई० के अपने पत्र (खंड ३५ संख्या ३६६५) में हेनरी ऑक्सीडेन ने लिखा है :

'दिस डे द राजा एकार्डिंग टु द हिंदू कस्टम वाज वेड इन गोल्ड ऐंड प्याएण्ड एबाउट १६००० पगोडाज हिच मनी, टुगेदर विद वन हंड्रेड थाउजेंड मोर, इज टु बी डिस्ट्रीब्यूटेड आफ्टर हिज कारोनेशन अमंग ब्राह्मणाज हू इन ग्रेट नंबर आर फ्लाक्ड हिदर फ्राम आल दि ऐडजेसेंट कंट्रीज।'[11]

शिवराजभूषण में दानसंबंधी कई पद हैं जिनकी संख्या लगभग १५ है। इससे यह अनुमान लगाना संगत प्रतीत होता है कि २६ मई सन् १६७४ ई० के कुछ दिन पूर्व ही भूषण रायगढ़ पहुँच गए थे।

१०. शिवाजी ऐंड हिज टाइम्स, पृ० २०८।
११. इंगलिश रेकर्ड्स, आन शिवाजी, शिवचरित्र कार्यालय पूना, पृ० ३७४।

इसी सिलसिले में भूषण और शिवाजी की प्रथम मिलन संबंधी जनश्रुति पर भी विचार करना अपेक्षित है। किंवदंती है कि शिवाजी की राजधानी रायगढ में पहुँचकर भूषणजी संध्या को देवालय में ठहरे। कुछ रात व्यतीत होने पर शिवाजी अकेले ही उस देवालय में पूजनार्थ पहुँचे। भूषण से परिचित होने पर जब शिवाजी ने उनके आने का कारण जाना तो कुछ छंद सुनाने के लिये कवि से आग्रह किया। दरबार पहुँचने के पूर्व भूषण ने निम्न छंद सुनाया—(इस देवालय में भूषण-शिवाजी-मिलन हुआ परंतु कवि भूषण शिवाजी को पहिचान नहीं सके।)

इंद्र जिमि जंभ पर बाड़व सुअंभ पर।
रावन सदंभ पर रघुकुल राज है।
पौन बारिबाह पर संभु रतिनाह पर।
ज्यौं सहसबाह पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम दंड पर चीता मृग झुंड पर।
भूषन बितुंड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर।
त्यौं मलिच्छ बंस पर सेर शिवराज है ॥५६॥

ऑक्सीडेन ने सन् १६७४ की १६ मई, मंगलवार के पत्र में लिखा है—

'सेट फर्वर्ड्स फार रायसी, ऐंड एबाउट नाइन आव द क्लाक केम टु पनचर्रा (पचाड), ए टाउन ऐट द फुट आव रायसी, ह्वेयर वी अंडरस्टुड दैट शिवाजी वाज डिपार्टेड देंस टु प्रतापगढ टु विजिट द श्राइन आव भवानी, ए पैगोडा आव ग्रेट एस्टीम विद् हिम, ऐंड सेलिब्रेटेड सम सेरिमनीज देयर इन आर्डर टु हिज कारोनेशन।'[१२]

ऑक्सीडेन के उपर्युक्त विवरण से ऊपर लिखित किंवदंती की पुष्टि होती है। ऑक्सीडेन के कथनानुसार १६ मई को शिवाजी प्रतापगढ़ में भवानी के मंदिर में गए हुए थे। भूषण भी उसी देवालय में पहले से ठहरे हुए थे। इसी लिये १६ मई के एकाध दिन पूर्व ही भूषण ने 'शिवराजभूषण' का प्रारंभ निश्चित रूप से कर दिया था।

'शिवराजभूषण' अथवा 'शिवभूषण' नाम से भी 'अभिषेक' का संकेत मिलता है। इसलिये यह प्रमाणित है कि 'शिवराजभूषण' का प्रारंभ १६ मई, सन् १६७४ ई० के एकाध दिन पूर्व हो गया था। शिवाजी के राज्याभिषेक के पावन पर्व पर

१२. वही, पृ० ३७१।

एक ग्रंथ को शिवाजी महाराज के करकमलों में समर्पण करने की कवि भूषण की हार्दिक इच्छा थी। इसलिये ग्रंथ प्रणयन का कार्य कवि ने प्रारंभ तो कर दिया, परंतु इतने थोड़े दिनों में ग्रंथ का पूर्ण होना संभव नहीं था। शिवाजी के अभिषेक के अवसर पर कवि अपने ग्रंथ को पूर्ण नहीं कर सका। अभिषेक के बाद ही ग्रंथ की समाप्ति हुई और ग्रंथ पूर्ण होने पर कवि ने शिवाजी को समर्पित कर दिया। कुछ दिन वहाँ रहकर कवि भूषण अपने देश को लौट गया। इस अभिषेक के समय कवि भूषण को काफी दान मिला।

वीर शिवाजी के जीवन से संबंधित ग्रंथनिर्माण की कल्पना कवि ने पहले ही कर ली थी। इसलिये ग्रंथ के प्रारंभ में ही कवि लिखता है :

सुकविन हू की कछु कृपा समुझि कविन को पंथ।
भूषन भूषनमय करत 'शिवभूषन' सुभ ग्रंथ॥ ३०॥

कवि ने ग्रंथ का नामकरण भी 'शिवभूषण' कर लिया। ग्रंथ के अंत में भी छंद संख्या ३८० में 'शिवभूषन' का ही उल्लेख कवि ने किया है—

भूषण सिव भूषन कियो पढ़ियौ सुनो सुजान।

परंतु पुष्पिका में कवि ने इस प्रकार लिखा है—

इति श्री कवि भूषण विरचिते शिवराज भूषणे अलंकार वर्णन समाप्तम्।

इसलिये कवि भूषण के इस ग्रंथ को 'शिवभूषण' अथवा 'शिवराजभूषण' कहा जाता है, परंतु अधिक एवं सर्वत्र प्रचलित नाम 'शिवराजभूषण' ही है। इस ग्रंथ के प्रणयनकाल में कवि भूषण का शिवाजी के दरबार से कोई संबंध नहीं था। बहुतों ने भूषण को दरबारी कवि माना है जिसकी पुष्टि तत्कालीन रिकार्डों[13] से नहीं होती। कवि ने भी तो स्वतः अपने को 'याचक' ही लिखा है। 'शिवराजभूषण' की समाप्ति के बाद कवि का रायगढ़ से वापस जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जायगा। कुछ दिन बाहर रहने पर कवि पुनः रायगढ़ संभवतः शिवाजी के निमंत्रण पर आ गए। इसबार इनका संबंध संभव है शिवाजी के दरबार से रहा हो। श्री ब्रजरत्नदास के कथनानुसार भूषण द्वितीय बार संवत् १७६४-६५ वि० में दक्षिण गए थे।[14]

अब 'शिवराज भूषण' के समाप्तिकाल पर विचार करना है। इस ग्रंथ की समाप्ति कवि ने विक्रम संवत् १७३० में की थी जिसका उल्लेख कवि ने स्वतः किया है। प्रायः

१३. वही।
१४. भूषणग्रंथावली (प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद), (भूमिका) पृ० ८।

सभी विद्वानों ने इस निर्माण संवत् का समर्थन किया है। परंतु भागीरथप्रसाद दीक्षित ने वि० सं० १७७१ में इस ग्रंथ का निर्मित होना माना है। अपनी पुष्टि के लिये दीक्षित जी ने जिस आधारों एवं प्रमाणों को प्रस्तुत किया है वे सर्वथा अमान्य हैं दीक्षितजी के विचार से बहुत ही कम लोग सहमत हैं।

विक्रम संवत् १७३० की जिस तिथि (?) को कवि ने ग्रंथ की समाप्ति की, उस तिथि को बहुतों ने शिवाजी ने अभिषेक के पूर्व ही माना है। अर्थात् राज्याभिषेक के कुछ दिन पहले ही ग्रंथ की समाप्ति हो गई थी। श्री व्रजरत्नदास ने लिखा है -

'भूषण की प्राप्त कविता मे सं० १७३० वि० तक की घटनाओं का जितनी प्रचुरता से वर्णन मिलता है उसमे कहीं कम, नहीं के समान, बाद की घटनाओं का उल्लेख है। इस अभिषेकोत्सव के विषय मे तो कुछ भी नहीं कहा गया है।'[१५]

'शिवाबावनी' का छंद ३४ ही एक मात्र ऐसा है जिसमे शिवाजी के अभिषेक का उल्लेख कवि ने किया है। इसके लिये मिश्रबंधु का विचार भिन्न है—

'भूषणजी ने शिवाजी के सन् १६७४ वाले राज्याभिषेक के वर्णन मे एक ही छंद लिखा हो, यह संभव नहीं। ऐसे प्रधान उत्सव मे कवि जी अवश्य ही सम्मिलित हुए होंगे अथवा घर से लौटने पर उसका पूर्ण वृत्तांत तो उन्होंने सुना ही होगा। × × × जान पड़ता है कि कहीं न कहीं भूषणजी ने इसका वर्णन किया ही होगा; पर जिस ग्रंथ मे यह वर्णन होगा, वह अभी तक कहीं छिपा ही पड़ा हुआ प्रतीत होता है।'[१६]

अभिषेक के वर्णन के अभाव मे ग्रंथ की समाप्ति अभिषेकोत्सव के पूर्व मानना कोई तर्कपूर्ण विचार नहीं है। कवि ने तो स्पष्ट ही लिखा है—**भाँति भाँति भूषननि सों भूषित करौं कवित्त ॥ २६ ॥** पुनः छंद संख्या ३० मे लिखा गया है— **भूषन भूषनमय करत 'शिवभूषन' सुभ ग्रंथ ॥** कवि का यह अलकार-ग्रंथ है। विभिन्न अलंकारो का लक्षण देते हुए कवि ने (उदाहरण मे) शिवाजी के जीवन से संबंधित प्रमुख घटनाओं का उल्लेख किया है। श्री व्रजरत्नदास ने भी लिखा है कि 'कविराज ने शिवराजभूषण नामक अलंकार ग्रंथ की रचना की और उदाहरणों में अपने उस वीर रसावतार आश्रयदाता के चरित के अनुरूप ही वीर रस पूर्ण गुणानुवाद किया।'[१७] इस अलंकारप्रधान ग्रंथ में भूषण ने शिवाजी के

१५. वही. भूमिका पृ० ७।
१६. भूषणग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ० ५।
१७. भूषण ग्रंथावली, व्रजरत्नदास, पृष्ठ ६।

अभिषेक का उल्लेख किसी लक्षणाभाव में न किया हो तो आश्चर्य नहीं। अभिषेक के उल्लेख के अभाव में ग्रंथ का अभिषेकोत्सव के पूर्व ही निर्मित होना मान्य नहीं है—यह कोई सबल तर्क नहीं है। ग्रंथ के अंत में भूषण ने लिखा है—

पुहुमि पानि रवि ससि पवन जब लौं रहे अकास।
सिव सरजा तब लौं जियौ भूषन सुजस प्रकास ॥ ३८२ ॥

किसी विशेष उत्सवसमारोह में ही आशिर्वाद करने की परिपाटी है। उपर्युक्त छंद से ऐसा संकेत मिलता है कि अभिषेक के मंगल अवसर पर कवि अवश्य उपस्थित था। परंतु ग्रंथ इस अभिषेक के बाद ही समाप्त हुआ, इसलिये कवि ग्रंथ के अंत में शिवाजी के प्रति अपनी मंगल कामना प्रकट करते हुए अपने ग्रंथ को (छत्रपति शिवाजी को) समर्पित करता है।

'शिवराज भूषण' के निर्माण संबंधी निम्नलिखित चार विभिन्न छंद पाए जाते हैं—

१ सुभ सत्रहसै तीस पर बुध सुदि तेरसि मान।
भूषण सिव भूषन कियो पढ़ियौ सुनौ सुजान।
२. संवत सत्रह सै तीस सुचि वदि तेरसि मान।
भूषण शिवभूषण कियो पढ़ियो सकल सुजान॥
३. संवत् सतरह तीस पर सुचि वदि तेरसि मान।
भूषण शिवभूषण कियो पढ़ियो सकल सुजान॥
४. सम सत्रह सैंतीस पर सुचि वदि तेरसि भान।
भूषण शिवभूषण कियो, पढ़ियो सुनौ सुजान॥

प्रथम छंद काशिराज के पुस्तकालय की हस्तलिखित प्रति में है। मिश्रबंधु ने अपने ग्रंथ 'भूषण ग्रंथावली' में इसी छंद को प्रकाशित किया है। भूषण ग्रंथावली के टीकाकार पंडित राजनारायण शर्मा (प्रकाशक हिंदी भवन, लाहौर) ने भी अपने ग्रंथ में इसी छंद को स्थान दिया है। दूसरा छंद काशी नागरीप्रचारिणी सभा की प्रति में उद्धृत है। तीसरा छंद साहित्यसेवक कार्यालय, काशी से प्रकाशित 'शिवराज-भूषण' की प्रति में प्रकाशित है। इस पाठ के मूलस्रोत की चर्चा पुस्तक में नहीं है। चौथा छंद नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित 'शिवराजभूषण' को प्राचीन प्रति में है।

क्रमानुसार उपर्युक्त तीनों छंदों से इतना तो ज्ञातव्य है कि कवि भूषण ने अपने 'शिवराजभूषण' का निर्माण वि० सं० १७३० में निश्चित रूप से किया था। निर्माणसंबंधी जितने भी छंद उपलब्ध हुए हैं (४थे को छोड़कर) संवत् १७३० का

स्पष्ट उल्लेख है। सं० १७३० के किस खास महीने में ग्रंथ की समाप्ति हुई इसमें विभिन्नता है। प्रथम छंद को छोड़कर सभी छंदों में **सुचि बदि तेरसि भान** (अथवा मान) लिखा गया है। प्रथम छंद में '**बुध सुदि तेरसि मान**' है अर्थात् ग्रंथ पूर्ण होने के समय की तिथि थी—शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी, दिन बुधवार। किसी निश्चित मास का उल्लेख नहीं है। मिश्रबंधु ने कार्तिक मास में इस ग्रंथ की समाप्ति मानी है। मिश्रबंधु की प्रार्थना पर महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी ने वि० सं० १७३० का पूर्ण पंचांग बनाया था जिससे 'विदित होता है कि श्रावण और कार्तिक मास में शुक्ला त्रयोदशी बुधवार को उक्त संवत् (१७३०) में पड़ी थी। कार्तिक में १४ दंड ५५ पल वह तिथि बुध के दिन थी और श्रावण में ३६ दंड ४० पल। जान पड़ता है कि कार्तिक मास में ग्रंथ समाप्त हुआ था, क्योंकि कुआर कार्तिक तक की घटनाएँ उसमें कथित हैं।'[१८] भूषण जैसे कवि के लिये निर्माणकाल संबंधी छंद में महीने का उल्लेख नहीं करना बहुत ही चिंतनीय है। कालसंबंधी प्रायः सभी प्राचीन पदों में महीने का उल्लेख अवश्य रहता है। विक्रम संवत् १७३० के किन किन महीनों में सुदि तेरस को बुधवार पड़ा था, इसकी खोज मिश्रबंधु ने श्रमपूर्वक की परंतु इससे उनका निर्णय प्रमाणकोटि में नहीं रखा जा सकता। दीक्षितजी ने ठीक ही लिखा है कि 'जब वर्ष में एक ही तिथि २४ बार और एक ही वार ५२ दफा आता है तो वार और तिथि अवश्य कहीं न कहीं जाकर एकत्रित हो ही सकते हैं।'[१९] मास के अभाव में उपर्युक्त छंद संख्या एक की जाँच करना सर्वथा दुर्लभ है। कवि ने मास का उल्लेख नहीं किया। इसी लिये इस दोहे की प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

उक्त तीसरे छंद का पाठ कहाँ से लिया गया है इसकी चर्चा प्रकाशक (साहित्य सेवक कार्यालय, काशी) ने 'शिवराजभूषण' में नहीं की है। परंतु तीसरे और दूसरे छंदों में अंतर बहुत ही न्यून है। इसलिये दूसरे छंद पर ही विचार करना है। इस छंद में 'सुचि' मास का कवि ने उल्लेख किया है इसलिये इस छंद पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। 'वार' के अभाव में दीक्षितजी इस दोहे को भ्रमपूर्ण मानते हुए इसकी परीक्षा करने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं।[२०] परंतु दीक्षितजी का यह विचार तर्कसंगत नहीं है। थोड़े से पाठांतर के साथ श्री ब्रजरत्नदास ने निर्माणकाल के निम्न दोहे को निज संपादित 'भूषणग्रंथावली' में प्रकाशित किया है —

१८. भूषण ग्रंथावली, नागरीप्रचारिणी सभा, पृष्ठ ५७।
१९. भूषणविमर्श, सरस्वती प्रकाशन मंदिर, इलाहाबाद, पृ० ३६।
२०. वही, पृ० ३६।

सुभ सत्रह से तीस पर सुचि बदि तेरस भान।
'भूषन' सिव भूषन कियो पढ़ियौ सकल सुजान॥ ३८०॥

इस दोहे मे 'भान' शब्द है जो रविवार का पर्याय है। शुद्ध प्रयोग 'भानु' है और 'भानु' के बदले में 'भान' का प्रयोग तुकहितार्थ है और इसके लिये कवि स्वतंत्र है। श्रीब्रजरत्नदास ने कालसंबंधी इस दोहे को प्रामाणिक माना है। लेखक ने लिखा है—

'यह भूषणकृत ही है क्योंकि उनका उपनाम भी इसमें दिया हुआ है और समय भी जाँच मे ठीक उतरता है। ज्येष्ठकृष्ण १३ सं० १७३० को रविवार ही था। उस दिन शकाब्दका वैशाख वदी १३ स० १५९५ और खिष्टाब्द का ४ मई सन् १६७३ ई० था। यह जाँच भारत सरकार की ओर से मदरास से प्रकाशित सहस्रवर्षीय बृहत् पंचाग देखकर किया गया है और इसे काशी नागरीप्रचारिणी सभा के खोज विभाग के निरीक्षक रायबहादुर बा० हीरालाल बी० ए० ने किया है।'[२१]

श्री ब्रजरत्नदास ने अपने इस कथन मे जिस तिथि का उल्लेख किया है, उस दिन गणना से रविवार था यह निश्चित है परंतु विद्वान् लेखक ने 'सुचि' को ज्येष्ठ मास माना है जिसकी पुष्टि 'अमरकोष' से नहीं होती है। 'अमरकोष' के अनुसार 'शुचि' आषाढ़ मास को कहते हैं

वैशाखे माधवो राधो ज्येष्ठे शुक्रः शुचिस्त्वयम्।
आषाढ़े श्रावणे तु स्यान्नभः श्रावणिकश्च सः॥ १६॥[२२]

(शुचिस्त्वयम् आषाढ़े—आषाढ मास के नाम २—शुचि १ आषाढ़ २)

इसलिये हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि भूषण ने 'शिवराज भूषण' की समाप्ति वि० सं १७३० आषाढ वदि त्रयोदशी रविवार के दिन की थी। उत्तर भारत में यह तिथि श्रावण वदि त्रयोदशी होगी। पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने लिखा है—

उत्तरी हिंदुस्तान मे महीनों का प्रारंभ कृष्णा १ से और अंत शुक्ला १५ को होता है, परंतु दक्षिण मे महीनों का प्रारंभ शुक्ला १ से और अंत कृष्णा अमावास्या को होता है इसलिये उत्तरी विक्रम संवत् के महीने पूर्णिमांत और दक्षिणी के अमांत (दर्शांत) कहलाते हैं। शुक्ल पक्ष तो उत्तरी और दक्षिणी हिंदुस्तान में एक ही होता है परंतु उत्तरी हिंदुस्तान का कृष्ण पक्ष दक्षिणी से १ महीना पहिले रहता

२१. भूषण ग्रंथावली, रामनारायण लाल, इलाहाबाद, पृ० ६३।
२२. अथामरकोशः, खेमराज श्री कृष्णदास बंबई, सं० २००१, पृष्ठ १७।

है अर्थात् जिस पक्ष को हम उत्तरी हिंदुस्तानवाले वैशाख कृष्ण कहते हैं उसी को दक्षिणवाले चैत्र कृष्ण लिखते हैं।'[२३]

अषाढ़ वदि त्रयोदशी को गणना के अनुसार रविवार था। दिन निकालने की सारिणी आगे दी गई है।

अब चौथे छंद पर विचार करना है। निर्माण काल संबंधी उक्त क्रमानुसार तीनों छंदों को अप्रामाणिक मानते हुए श्री भगीरथ प्रसाद दीक्षित ने अपना स्वतंत्र मत प्रचारित किया है। उन्होंने 'शिवराजभूषण' का रचनाकाल वि० सं० १७७३ माना है और अपने मत की पुष्टि मे 'शिवराज भूषण' और 'शिवाबावनी' के कुछ ऐतिहासिक विवरणों का हवाला दिया है और इसके अलावा नवल किशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित 'शिवराजभूषण' की प्राचीन प्रति में उद्धृत कालसबंधी उपर्युक्त छंद संख्या ४ का उल्लेख किया है। इस छंद का अर्थ दीक्षितजी ने इस प्रकार किया है—'संवत् १७३७ वि० के पश्चात् अर्थात् सं० १७३८ वि० में आषाढ़ वदी १३ रविवार के दिन देवाधिदेव शिवजी ने भूषण को जन्म दिया।'[२४] भूषण के जन्म और **'पढ़ियो सुनौ सुजान'** मे कोई तुक नहीं है। भूषण की जन्मतिथि को किसी सुजान के लिये पढ़ने और सुनने का कोई अर्थ नहीं। दीक्षित जी ने जिस अर्थ का प्रतिपादन किया है, विरोधी भावना से ग्रसित है। भूषण को शिवाजी के समकालीन मानने में दीक्षित जी अपनी असम्मति प्रकट करते हैं और इसका एक मात्र कारण है 'शिवसिंह सरोज' क्योंकि 'सरोज' ने भूषण का जन्म वि० सं० १७३८ मे माना है। उनके विचार से भूषण शाहू के समकालीन थे। 'सरोज' में भूषण की दी हुई जन्मतिथि को दीक्षितजी अधिक शुद्ध मानते हैं क्योंकि 'शिवसिंह सरोज की रचना ही भूषण मतिराम के जीवनचरित्र को संशोधित कर परिष्कृत रूप देने के लिये हुई है। इससे प्रतीत होता है कि सरोज मे दिया गया भूषण तथा चिंतामणि का यह जन्मकाल अन्य विद्वानों की अपेक्षा अधिक शुद्ध है।'[२५] निर्माणकाल संबंधी उपर्युक्त दोहों (चौथा दोहा को छोड़कर) मे भी इसका समर्थन होता है कि वि० सं० १७३० ही मे 'शिवराज भूषण' निर्मित हुआ था परंतु अपने मत की पुष्टि के लिये दीक्षितजी इन तीनों दोहों को बनावटी मानते हैं।

२३. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, तीसरा संस्करण, पृ० १६१।

२४. महाकवि भूषण, साहित्य भवन लि०, इलाहाबाद: द्वितीय संस्करण, पृ० २८।

२५. भूषण विमर्श, पृ० ८।

दीक्षितजी का यह विचार भ्रामक है। भूषण पर दीक्षितजी ने घोर परिश्रम किया है परंतु विद्वानों द्वारा दीक्षितजी का मत समादृत नहीं हो सका।

शिवाजी का राज्याभिषेक ६ जून सन् १६७४ शनिवार के दिन तदनुसार भारतीय तिथि ज्येष्ठ शुक्ल त्रयोदशी को हुआ था। शिवाजी के सिंहासनारूढ़ होते ही उपस्थित अपार जन समूह 'जय शिवराज की जय!' के नारे लगाने लगा। श्री जदुनाथ सरकार ने लिखा है—

'ऐज़ शिवाजी माउंटेड द थ्रोन, स्माल लोटसेज़ आव् गोल्ड सेट विद् ज्वुएल्स, ऐंड वेरियस अदर फ्लावर्स मेड आव् गोल्ड ऐंड सिल्वर वेयर श्राउडेड एमंग द असेंबुल्ड थ्रांग। × × × द क्राउड सेट अप डेफेनिंग शाउट्स आव् 'विक्टरी' 'विक्टरी टु शिवराज!' आल द इंस्ट्रुमेंट्स बिगैन टु प्ले ऐंड द म्युज़िशिअंस टु सिंग ऐट वंस।'[२६]

भूषण ने अपने ग्रंथ में शिवाजी के लिये 'शिवराज' शब्द का प्रयोग लगभग २५ विभिन्न पदों में किया है। 'महाराज' शब्द का प्रयोग १३ दोहों में हुआ है। 'महाराज' शब्द के उल्लेख से इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि 'राज्याभिषेक' के बाद ही 'शिवराज भूषण' की समाप्ति हुई। 'शिवाजी ऐंड द राइज़ आव् द मराठाज़' नामक ग्रंथ की कालक्रम निर्देशिका के सन् १६७४ ई० के अंतर्गत लिखा गया है 'जून ६। शिवाजी इज़ क्राउंड महाराज'।[२७] ग्रांट डफ ने लिखा है कि राज्याभिषेक के पूर्व भी शिवाजी अपने को राजा और महाराजा कहते थे।[२८] परंतु अन्य किसी इतिहासकार ने यह नहीं लिखा है कि राज्याभिषेक (६ जून सन् १६७० ई०) के पूर्व भी शिवाजी 'महाराजा' कहलाते थे।

ग्रंथ में 'शिवराज' शब्द के प्रयोग से यह धारणा संगत नहीं कि 'शिवराज भूषण' के अधिकांश पदों की रचना अभिषेकोत्सव के पश्चात् ही हुई। इस ग्रंथ में शिवाजी संबंधी ऐतिहासिक घटनाओं का ही विवरण है। इन विवरणों को इकट्ठा करने में कुछ दिन तो भूषण को अवश्य लगे होंगे। विवरणों के सांगोपांग वर्णन से इसकी पुष्टि भी होती है। ऊपर लिखा जा चुका है कि सन् १६७४ ई० की १६ मई के एकाध दिन पूर्व भूषण रायगढ़ आए और कुछ छंदों की रचना उन्होंने उन दिनों की। 'शिवराज भूषण' के लिये शिवाजी के जीवन से संबंधित सामग्री संग्रह करने में १०-१५ दिन अवश्य ही लगे होंगे। इसलिये अभिषेक के बाद

२६. शिवाजी ऐंड हिज़ टाइम्स, पृ० २१६-१७।
२७. पृ० १५६ (क्रोनोलौजी) प्रकाशक—सुशील गुप्त (इं०) प्रा० लि०, कलकत्ता।
२८. मराठों का इतिहास, इतिहास प्रकाशन संस्थान, इलाहाबाद, पृ० ११३।

ही ग्रंथ निश्चित रूप से पूर्ण हुआ है। हमने ग्रथ की समाप्ति आषाढ़ कृष्ण तेरस (वि० सं० १७३०) को मानी है।

शिवाजी का राज्याभिषेक ६ जून, सन् १६७४ ई० को हुआ था, तदनुसार वि० सं० १७३१ होना चाहिए परंतु कवि ने वि० सं० १७३० का उल्लेख (निर्माण-काल के लिये) किया है और इस निर्माणकाल को हमने प्रामाणिक माना है। इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि जब कवि भूषण ने स्वतः ग्रंथसमाप्ति का काल वि० सं० १७३० लिखा है, तब शिवाजी के अभिषेक के बाद (वि० सं० १७३१ में) ग्रंथ की समाप्ति कैसे हुई ? इस शंका का समाधान आवश्यक है।

डाक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने विक्रम संवत् के प्रारंभ के बारे में लिखा है कि 'इसका (विक्रम संवत्) प्रारंभ उत्तरी हिंदुस्तान में चैत्र शुक्ला १ से और दक्षिण में कार्तिक शुक्ला १ से होता है जिससे उत्तरी (चैत्रादि) विक्रम संवत् दक्षिणी (कार्तिकादि) विक्रम संवत् से ७ महीने पहले प्रारंभ होता है।[२९] विक्रम संवत् का प्रारंभ उत्तरी हिंदुस्तान में चैत्र सुदी प्रतिपदा से ही होता है परंतु दक्षिण भारत में इस संवत् का प्रारंभ सात महीने बाद कार्तिक सुदी एक से होता है। प्राचीनकाल में कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से ही विक्रम संवत् का नया वर्ष हिंदुस्तान में सर्वत्र चालू होता था। इंडियन एंटिक्वेरी में उल्लेख है—

'वास्तव में विक्रम संवत का प्रारंभ कार्तिक शुक्ला १ से और शक संवत् का चैत्र शुक्ला १ से है। उत्तरी हिंदुस्तान के भी पंचाग शक संवत के आधार पर बनने से उनमें वर्ष चैत्र शुक्ला १ से प्रारंभ होता है जिससे वहाँवालों ने पीछे से विक्रम संवत् का प्रारम चैत्र शुक्ला १ से भी मानना शुरू कर दिया हो।[३०] यह स्मरण रहना चाहिए कि 'शिवराजभूषण' की रचना कविभूषण ने रायगढ़ (दक्षिण भारत) में ही रहकर की थी।

शिवाजी के राज्याभिषेक की अँगरेजी तिथि ६ जून सन् १६७४ ई० है। हिंदी तिथि जेठ सुदी १३ है। ६ जून, सन् १६७४ का दक्षिण भारत में विक्रम संवत् १७३० ही होगा, न कि १७३१। दक्षिण में विक्रम संवत् का नववर्षारंभ कार्तिक सुदी प्रतिपदा से होता है। शिवाजी का अभिषेक जेठ महीने में संपन्न हुआ, इसलिये वि० सं० १७३० ही होगा। अभिषेक के १५ दिन बाद 'शुचि' अर्थात् आषाढ़ कृष्ण (वदी) १३ को 'शिवराजभूषण' की समाप्ति हुई थी। गणना के अनुसार आषाढ़

२९. भारतीय प्राचीन लिपिमाला, पृ० १६६।
३०. वही, पृ० १६६, पादटिप्पणी— २।

वदी तेरस को रविवार था। निर्माणसंबंधी छंदों मे 'सुचि वदि तेरह मान' वाला पद प्रामाणिक माना जायगा। चौथे छंद मे 'सत्रह सैंतीस पर' (१७३७) लिखा गया है, वह लिपिकार की असावधानी से ही संभव हुआ है। सै और तीस को पृथक् पृथक् ही लिखा जाना चाहिए था। इस प्रकार यह १७३० होगा। 'सम सत्रह सैंतीस पर, शुचि वदि तेरसि मान' की प्रामाणिकता पर विश्वास करते हुए दीक्षितजी ने शिवराजभूषण का निर्माणकाल माना है। दीक्षितजी के मतानुसार यह तिथि है: संवत् १७३७ वि० के पश्चात् अर्थात् सं० १७३८ वि० मे आषाढ़ बदी १३ रविवार के दिन...[31]। वि० सं० १७३८ की आषाढ़ वदी १३ को गणना से रविवार नहीं सोमवार पड़ता है। इस तिथि की अगरेजी तारीख २५ अप्रैल सन् १६८१ ई० हुई। अगर वि० सं० १७३७ की आषाढ वदी १३ को मान ले तो अँगरेजी तिथि १४ जून सन् १६८० होती है। इस तिथि को भी रविवार नहीं पड़ता—सोमवार पड़ता है। इसकी पुष्टि नीचे दी गई सारिणी से हो जाती है। इसलिये 'सत्रह सैंतीस शुद्ध नहीं है। 'सत्रह सै तीस' शुद्ध होगा और इस दिन रविवार निश्चित रूप से था।

१७वीं शती ई० की किसी निश्चित तारीख का दिन निकालने की तालिका यहाँ दी जाती है।

६ जून सन् १६७४ ई० को शिवाजी का राज्याभिषेक हुआ था। उस तिथि को कौन सा दिन था, इसका उल्लेख किसी ने भी नहीं किया है। निम्न सारिणी के अनुसार उस तिथि का दिन शनिवार होगा।

गणना के लिये १६७४ साल के केवल ७४ को लें। इस ७४ को ४ से भाग दें। भागफल १८ हुआ; शेष को छोड़ दे। अब ७४ और १८ को जोड़ देने से योगफल ९२ होगा। इस ९२ मे उक्त अभिषेक के दिनाक ६ जून का अक ६ जोड़ दें—योगफल ९८ मे निम्न तालिका के अनुसार जून महीने की सकेत संख्या ७ को जोड़ दें।

तालिका

जनवरी के लिये	१ जोड़े	मई के लिये	४ जोड़े	सितंबर के लिये	१ जोड़े
फरवरी ,,	६ ,,	जून ,,	७ ,,	अक्टूबर ,,	३ ,,
मार्च ,,	६ ,,	जुलाई ,,	२ ,,	नवंबर ,,	६ ,,
अप्रैल ,,	२ ,,	अगस्त ,,	५ ,,	दिसबर ,,	१ ,,

(अगर साल लीपइयर हो तो, जनवरी के लिये २ जोड़ें और फरवरी के लिये ५ जोड़े) इस प्रकार योगफल १०५ हुआ।

३१ महाकवि भूषण, पृ० २८।

सप्ताह के ७ दिन होते हैं, इसलिये १०१ में ७ से भाग दें—शेष ० (शून्य) बचेगा। निम्न दिनांक तालिका के अनुसार ० (शून्य) शनिवार के लिये निर्धारित है—

रविवार	सोमवार	मंगलवार	बुधवार	बृहस्पतिवार	शुक्रवार	शनिवार
१	२	३	४	५	६	०

अतः ६ जून सन् १६७४ ई० को शनिवार का दिन था।

इस सारिणी के आधार पर २५ अप्रैल सन् १६८१ और १४ जून सन् १६८० ई० के निश्चित दिन निकाले जा सकते हैं। इन दोनों तारीखों को सोमवार पड़ता है।

'शिवराजभूषण' की समाप्ति आषाढ़ वदी १३ को हुई थी। शिवाजी का अभिषेक शनिवार ६ जून को, सन् १६७४ ई० को संपन्न हुआ था। उस दिन की हिंदी तिथि थी जेठ सुदी १३ (जदुनाथ सरकार के अनुसार)। इस प्रकार ग्रंथ की समाप्ति तिथि आषाढ़ वदी १३ को अंगरेजी तारीख २१ जून, सन् १६७४ ई० होती है। सारिणी के अनुसार इस दिन रविवार पड़ता है। इसलिये 'शिवभूषण' अथवा 'शिवराजभूषण' की समाप्ति कवि भूषण ने रायगढ राजधानी (दक्षिण) में विक्रम संवत् १७३० की आषाढ़ (शुचि मास) वदी त्रयोदशी, दिन रविवार (भानु) को निश्चित रूप से की थी।

*

मेहरौली अभिलेख की नवीन व्याख्या और चंद्र की पहचान

दीनबंधु पांडेय

मेहरौली लौह स्तंभ के अभिलेख के अध्ययन एवं उसमें उल्लिखित चंद्र नामक शासक की पहचान के लिये अध्येताओं ने कई सत्प्रयास किए हैं। प्रस्तुत निबंध में अभिलेख में उल्लिखित शासक की पहचान के लिये अभिलेख की एक नई व्याख्या करके अंतःप्रमाण का एक नवीन आधार प्रस्तुत करने का प्रयास है।

उपस्थापना

मेहरौली अभिलेख चंद्र नामक एक ऐसे शासक से संबंधित है एवं उसका वर्णन करता है, जो विष्णुस्वरूप है। प्रशस्ति में वह शासक विष्णु का अवतार माना गया है।[1] मेहरौली अभिलेख गुप्तकालीन है।[2] अतः उल्लिखित चंद्र नामक शासक को गुप्तकालीन कहा जायगा।

१. भारतीय साहित्य इस प्रकार के उल्लेख की परंपरा से परिपूर्ण है। पृथु वैन्य को विष्णु ने अपने हाथों मुकुट पहनाया था एवं अपनी शक्ति उसे दी और स्वयं विष्णु उसके शरीर में समा गए, जिससे वह पूजित होता था (महाभारत १२।५६।१२७ एवं आगे)। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार विष्णु से अपने को पहचान कर राजा विश्व को जीत सकता है (१।७।४।१)। पुरंजय नामक शासक में विष्णु का अंश कहा गया है (विष्णुपुराण ४।२।६ एवं आगे)। वायुपुराण (५७।७२) में चक्रवर्ती शासक में विष्णु का अंश कहा गया है। मुद्राराक्षस (७।१६) में एक शासक को विष्णुस्वरूप कहा गया है। भारत एवं बृहत्तर भारत में शासकों द्वारा देवताओं के रूप में अपनी मूर्तियाँ भी बनवाने की प्रथा रही है (आस्पेक्ट्स आफ अर्ली विष्णुइज्म—जे० गोंडा, १९५४, पृ० १६५)।

२. कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, भाग ३, टेक्स्ट एंड ट्रांसलेशन, पृ० १४० सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस—डी० सी० सरकार, १९४२, पृ० २७५, पादटिप्पणी १।

विष्णुस्वरूप गुप्तकालीन चंद्र

गुप्तकाल एवं गुप्तकालीन अभिलेखों मे चंद्र नाम के शासकों मे चंद्रगुप्त द्वितीय ही विष्णुस्वरूप माना जाता था।[1]

१. चंद्र नाम के अन्य शासकों से मेहरौली अभिलेख के चंद्र की पहचान में और भी कठिनाइयाँ हैं। चंद्रसंबंधी विभिन्न मतो के पोषण एवं खंडन के लिये देखिए, जर्नल आफ इंडियन हिस्ट्री, भाग १६, पृ० ११७, हिस्ट्री आफ नार्थ ईस्टर्न इंडिया आर० जी० बसाक, पृ० १६; इंडियन ऐंटिक्वेरी, भाग १२, पृ० २१५; एपिग्रैफिया इंडिका, भाग १४, पृ० ३६७; जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल (एल), भाग ८ पृष्ठ १४ एवं भाग ६, पृ० १७६; जर्नल आफ आंध्र हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी, भा० १०, पृ० ८६, एनल्स आफ भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट, भा० १८, पृ० ३१; इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भा० २१ पृ० २०२, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५१, अंक ४, सं० २००१, पृ० १५२ एवं वर्ष ६६, अंक १, संवत् २०२१, पृ० २६१। श्रीराम गोयल ने (वही, पृ० २७३) चंद्रगुप्त द्वितीय की पहचान पर आक्षेप करते हुए समुद्रगुप्त को मेहरौली अभिलेख का चंद्र पहचाना है। उनके मत की असंगति संक्षेप में इस प्रकार है—समुद्रगुप्त के मेहरौली अभिलेख का चंद्र होने की संभावना वस्तुतः उसके 'चंद्रप्रकाश' नाम की संभावना पर की गई है। गोयलजी ने एक स्थान पर फ्लीट के इस मत का समर्थन किया है कि चंद्र शासक का नाम नहीं था, बल्कि उसे पूर्ण चंद्र की मुखछवि के कारण चंद्र कहा जाता था, दूसरी ओर उन्होंने 'नाम की समस्या में समुद्रगुप्त का दूसरा नाम 'चंद्रप्रकाश' माना है, जिसका आधार वामन की 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' है, जहाँ वसुबंधु को चंद्रगुप्त के पुत्र चंद्रप्रकाश के द्वारा मंत्री नियुक्त किए जाने का संकेत मिलता है। वसुबंधु के काल को चतुर्थ शताब्दी मे सीमित करके चंद्रप्रकाश को तत्कालीन शासक समुद्रगुप्त से पहचानना उचित नहीं जान पड़ता जब कि समुद्रगुप्त के अभिलेखों, सिक्कों एवं बाद के गुप्त लेखों में कहीं भी उसे चंद्र नाम से अभिहित नहीं किया गया है। वस्तुतः वसुबंधु के काल-निर्णय पर पुनर्विचार की आवश्यकता है और संभव है वे कुछ परवर्ती काल में रहे हों। वसुबंधु का काल पुराविदों में काफी विवाद का विषय है। गोविंदचंद्र पांडेय ने वसुबंधु को ५वीं शती का माना है (बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, १९६३ पृ० २६४-६५)। प्रशांतकुमार जायसवाल ने 'चंद्रप्रकाश' को नरसिंहगुप्त के बाद चंद्रगुप्त तृतीय के पुत्र के रूप में पह-

१. आभिलेखिक प्रमाण

चंद्रगुप्त द्वितीय को अभिलेखों में स्वयमप्रतिरथः (स्वयं चाप्रतिरथः)[४] [जो अवतारस्वरूप अप्रतिरथ (विष्णु)[५] था] एवं गोविंदवत्ख्यातगुणप्रभावः[६] [अपने गुण एवं प्रभाव के लिये गोविंद (विष्णु) की भाँति प्रसिद्ध था[७]] कहा गया है। मंदसोर अभिलेख में चंद्रगुप्त गुप्तवंश रूपी आकाश में चंद्रगुप्त के रूप में विख्यात भी कहा गया है।[८] मेहरौली अभिलेख में दोनों ही बातें 'चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्र सदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता' में कह दी गई हैं।

जानने का सुझाव दिया है जिसने ही संभवतः 'प्रकाशादित्य' के नाम से सिक्के चलाए (जर्नल आफ दि न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आव् इंडिया, भा० २८, खंड, १, पृ० ६५-६८)

४. कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, भा० ३, टेक्स्ट ऐंड ट्रांसलेशन, भितरी स्तंभलेख, पृ० ५३, पंक्ति ४, बिलसद स्तंभलेख, पृ० ४०, पंक्ति ४० 'स्वयमप्रतिरथः' को 'स्वयं चाप्रतिरथः' के रूप में सुधार लिया गया है—द्रष्टव्य, कुमारगुप्त का भितरी ताम्रमुद्राभिलेख, इंडियन ऐंटिक्वेरी, भा० १०, १८६०, पृ० १२८, पादटिप्पणी ६। बहादुरचंद्र छाबड़ा ने मथुरा प्रस्तराभिलेख (कार्पस, वही, पृ० २७) में भी 'स्वयं चाप्रतिरथः' के होने की संभावना व्यक्त की है — द्रष्टव्य, जर्नल आफ न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आफ इंडिया, भा० ६, खंड २, पृ० १३७, पादटिप्पणी १।

५. वही, पृ० १३८।

६. मालव संवत् ५२४ का मंदसोर अभिलेख, एपिग्रैफिया इंडिका, भा० २७, पृ० १५।

७. वही, पृष्ठ १६; जर्नल आफ दि न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी, भा० ६, खंड २, पृ० १४०।

८. गुप्तान्वयव्योमनि चन्द्रकल्पः श्रीचन्द्रगुप्तप्रथिताभिधानः।
आसन्नृपो लोकवि (लो) चनानां नवोदित चन्द्र इवापहर्ता॥

—एपिग्रैफिया०, भा० २७, पृ० १२-१५।

गुप्तवंशीय रूपी आकाश में चन्द्रस्वरूप कहे जाने की परंपरा संभवतः चंद्रगुप्त द्वितीय से ही प्रारंभ हुई और बाद के शासकों के लिये भी इसका प्रयोग हुआ। कुमारगुप्त के लिये द्रष्टव्य, अश्वारोही प्रकार के सिक्कों पर अग्रभाग के मुद्रालेख–गुप्तकुलामल चन्द्रः, गुप्तकुलव्योम शशी—गुप्तकालीन मुद्राएँ, अनंत सदाशिव अल्तेकर, १९५४, पृ० १२१, ११२ एवं १२६।

चंद्रगुप्त द्वितीय के विष्णुभक्त (परमभागवत) होने के कारण भी उसमें विष्णुतत्व का आरोप हुआ। पद्मपुराण एवं गरुड़पुराण में विष्णुभक्त विष्णुस्वरूप कहे गए हैं।[९] चद्रगुप्त द्वितीय के विक्रमसंबंधी विरुद विष्णु से संबंधित हैं, जो विद्वानों के अनुसार उपाधिमात्र न रहकर उसका प्रिय नाम हो चुका था।[१०]

२. मुद्राशास्त्रीय प्रमाण

चंद्रगुप्त के सिक्कों से भी उसके विष्णुस्वरूप होने की बात स्पष्ट है। चक्रविक्रम सिक्के[११] पर चंद्रगुप्त द्वितीय साक्षात् विष्णु का दर्शन कर रहा है।[१२] अनंत सदाशिव अल्तेकर की विष्णु की पहचान[१३] को अमान्य करते हुए सी० शिवराममूर्ति ने दैवीय व्यक्ति को चक्रपुरुष माना है[१४] जो वासुदेवशरण अग्रवाल के प्रमाणों के अनुसार विष्णु ही है।[१५] आर० जी० चंद्र ने सिक्के पर विष्णु एवं उनके प्रभामंडल का अंकन माना है।[१६] शिवराममूर्ति ने सिक्के के पृष्ठभाग के 'चक्रविक्रम' अभिलेख के तीन अर्थ सुझाए है—१. जो चक्र के विक्रमवाला है, २. जो चक्र को प्रयोग में लाने से विक्रमशील है, ३. जिसने चक्र से विक्रम प्राप्त किया है। श्री मूर्ति ने तीसरे अर्थ को सिक्के के संदर्भ में अधिक उपयुक्त कहा है।[१७] यह विष्णु के दो नामों के मेल से बनी उपाधि[१८] एवं उसके तीनों ही अर्थ विष्णु से संबंधित हैं। वस्तुतः चक्रविक्रम से विष्णु का ही बोध होता है। अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार चक्रपुरुष (विष्णु) की पूजा करनेवाला राजा शीघ्र ही चक्रवर्तित्व प्राप्त करता है।[१९] सिक्के पर पूजा के बाद जो कुछ चक्रपुरुष (विष्णु) की ओर से पूजा करनेवाले शासक को

९. द्रष्टव्य, पृ० १४, पादटिप्पणियाँ ५ एवं ६।
१०. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, विक्रमांक, पृ० ११५।
११. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृ० ६८, फलक ६, सिक्का ८।
१२. जर्नल आफ दि न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी, भा० ६, खंड २, पृ० १४०, पादटिप्पणी १।
१३. वही, भा० १०, खंड १, पृ० १०४।
१४. वही, भा० १३, खंड २, पृ० १८१ एवं १८२।
१५. वही, भाग १६, खंड १, पृ० ६८।
१६. वही, भा० २२, पृ० १६३।
१७. जर्नल आव् दि न्यूमिस्मैटिक सोसायटी भा० १३, पृ० १८०।
१८. वही, भा० ६, खंड २, पृ० १३६–४०।
१९. अहिर्बुध्न्य संहिता ३६।२६।२५। चक्रवर्ती शासक में विष्णु का अंश होता है।–वायुपुराण, ५७।७२।

प्राप्त हो रहा है वह राजा की चक्रवर्तित्व की प्राप्ति या चक्रवर्तित्व की प्राप्ति में सहायक कोई वस्तु होनी चाहिए। शिवराममूर्ति के अनुसार चक्रपुरुष (विष्णु) द्वारा दी जाने वाली तीन गोल वस्तुएँ प्रभुशक्ति, मंत्रशक्ति एवं उत्साहशक्ति हैं।[२०] एच० वी० त्रिवेदी ने उन्हें तीनों भुवनों का प्रतीक माना है, जो अधिक युक्तिसंगत जान पड़ता पड़ता है।[२१] आर० जी० चद्र ने देवलोक, मृत्युलोक एवं नागलोक कहा है।[२२] हमारी दृष्टि में चक्रपुरुष राजा को विक्रम प्रदान कर रहा है।[२३] चक्रपुरुष यतः विष्णु हैं अतः वह राजा को त्रिविक्रमत्व प्रदान करता है, जिसके फलस्वरूप राजा चक्रविक्रम हुआ अर्थात् विष्णु के विक्रमवाला हुआ। संहिता में नायक के रूप में सौराष्ट्र के राजा को लिया गया है, जिसे गन्धर्वों को हरानेवाला कहा गया है। वासुदेवशरण अग्रवाल गंधर्वों से गाधार के लोगों का अर्थ लेते हैं।[२४] राजा के त्रिविक्रमत्व की प्राप्ति, उसके विष्णुस्वरूप होने एवं सौराष्ट्र के शासक का गाधार क्षेत्र का विजेता होने की बातें बहुत कुछ मेहरौली अभिलेख में प्राप्त तथ्यों की ओर संकेत करती हैं। चक्रविक्रम सिक्के को स्मारक पदक माना गया है।[२५] बहुत संभव है चक्रविक्रम सिक्के के चलाए जाने एवं विष्णुभक्त की स्थापना का समय एवं उद्देश्य एक ही रहा हो।

पर्यंक पर राजारानी प्रकार के सिक्के[२६] के पृष्ठ भाग पर एस० वी० सोहनी ने अदिति एवं विष्णु के अवतार मांधाता का अंकन माना है।[२७] मुनीशचंद्र जोशी के अनुसार यह अंकन श्री एवं विष्णु का है।[२८] पृष्ठ भाग का लेख **श्री विक्रमः** भी इसके अनुरूप ही है।[२९] **श्री विक्रम** लेख धनुर्धारी प्रकार के सिक्कों पर भी है, किंतु वहाँ पृष्ठ भाग पर केवल लक्ष्मी का चित्र है। संभवतः पृष्ठभाग के चित्र को लेखानुरूप करने के लिये यह नया प्रकार चलाया गया होगा। इस श्री एवं विष्णु के

२०, जर्नल आव् दि न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी भा० १३, खंड २, पृ० १८२।

२१. वही, भा० १७, खंड १, पृ० १०८-९।

२२. वही, भा० २२, पृ० २६३।

२३. पृथुवैन्य को विष्णु ने शक्ति प्रदान की थी। विष्णु स्वयं पृथुवैन्य के शरीर में समा गए थे। महाभारत १२।५६। १२७ एवं आगे।

२४. वही, भा० १९, खंड १, पृ० १०१।

२५. वही, पृ० १००-१०१।

२६. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृ० ६८, फलक ६, सिक्का ६।

२७. जर्नल आव दि न्यूमिस्मैटिक सोसायटी, भा० १०, खं० २, पृ० १८०।

२८. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृ० ६५, फलक ६, सिक्का १।

२९. विष्णुसहस्रनाम, गीताप्रेस, श्लोक ४१।

अंकन में संभव है चंद्रगुप्त द्वितीय एवं उसकी रानी का चित्र ही रखा गया हो। चंद्रगुप्त द्वितीय को पर्यंक प्रकार के सिक्कों के पहले प्रकार में पृष्ठ भाग पर रूपाकृती लेख है[30] जिसका एक अर्थ अल्तेकर ने 'सफल नाटककार' किया है। वस्तुतः सफल नाटककार का संबंध नाना रूपों के धारण करने से संबंधित है। विष्णुसहस्रनाम में 'नैकरूप' विष्णु का एक नाम है।[31] रूपाकृती में इस नैकरूप की ध्वनि मानी जानी चाहिए। चंद्रगुप्त द्वितीय वस्तुतः **देवश्री महाराजाधिराज**[32] (विष्णु के वैभववाला शासक)[33] था जैसा कि वह अपने सिक्कों पर कहा गया है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय के ध्वजधारी प्रकार के एक सिक्के[34] पर **वसुधां विजित्य जयत त्रिदिवं पृथिवीश्वरः पुण्यैः** (संसार को जीतकर पृथ्वी का स्वामी पुण्यकर्मों से स्वर्ग की प्राप्ति करता है) लेख तो वस्तुतः मेहरौली अभिलेख के प्रथम एवं द्वितीय श्लोकों में कवि द्वारा कही गई बातों को समझने के लिये कुंजी है। मुद्राभिलेख में पृथ्वीश्वर शब्द का प्रयोग ध्यानाकर्षक है, क्योंकि इसमें पृथिवीपति विष्णु[35] का अर्थ सन्निहित है। एक दूसरे प्रकार के सिक्के[36] पर **क्षितिमवजित्य सुचरितै- र्दिवं जयति विक्रमादित्यः** (विक्रमादित्य पृथ्वी को जीतकर अच्छे कार्यों द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति कर रहा है) अभिलेख तो ऊपर के मुद्राभिलेख के संदर्भ में उसी लेख की पुनर्व्याख्या है।

३. कला के प्रमाण

उदयगिरि (विदिशा) की भूदेवी के उद्धार की वराह मूर्ति में विद्वानों के मतानुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय के ध्रुवदेवी के शकों से उद्धार की घटना परिलक्षित की

३०. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृ० ८२, फलक ४, सिक्के ६-६; फलक ७ सिक्के ५-६।
३१. जर्नल आफ दि न्यूमिस्मैटिक सोसायटी भा० ६, खंड २ पृ० १४०।
३२. गुप्तकालीन मुद्राएँ; पृ० ८२, फलक, सिक्का ६, एवं पृ० ६३, ६४, ६५; फलक ६, सिक्के १, २ के अग्रभाग के अभिलेख।
३३. जर्नल आफ दि न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी भा० ६, खंड २, पृ० १०४।
३४. गुप्तकालीन मुद्राएं, पृ० १८।
३५. विष्णुसहस्रनाम, श्लोक ७० (मेदिनीपतिः)।
३६. गुप्तकालीन मुद्राएँ, पृ० ६०, फलक ८, सिक्के ७, ८, ६, ११, १२, १३, १४, १५।

गई है।[३७] इस प्रकार यह मूर्ति चंद्रगुप्त को विष्णु का अवतार अंकित करने का एक प्रयास है। चंद्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि गुहाभिलेख[३८] मे वहाँ संपूर्ण पृथ्वी के विषय के हेतु (कृत्स्न पृथ्वी जयार्थेन) उसके पहुँचने की बात कही गई है। संभवतः उसके पृथिवी विजय को ही वाराह द्वारा भूमि उद्धार के रूप में अंकित किया गया। इस प्रकार चंद्रगुप्त को विष्णु के अवतार के रूप मे अंकित करने का अवसर भी है, जो ध्रुवदेवी के उद्धार की घटना से अधिक संगत जान पड़ती है। संभव है इन दोनों ही घटनाओं को एक साथ जोड़ लिया गया हो।

मेहरौली अभिलेख का नवीन अध्ययन

१. त्रिविक्रम

मेहरौली अभिलेख का प्रथम श्लोक उल्लिखित शासक के पराक्रम एवं विजयों का वर्णन करता है। उसने वंग में शत्रुसमूह को परास्त किया और सिंधु को पार करके वाह्लीक लोगों को हराया। उस शासक के पराक्रम की दक्षिण जलनिधि तक अधिवसित कहा गया है। यह श्लोक उस शासक एवं भगवान् विष्णु के पराक्रमों की समानता को ध्यान मे रखकर रचा गया है। विष्णु अपने त्रिविक्रम के लिये प्रसिद्ध हैं। अभिलेख मे उल्लिखित शासक ने भी वैसा ही त्रिविक्रम किया है। संभवतः प्रशस्ति मे इसी कारण उसके दिग्विजय अभियान का वर्णन नहीं है, बल्कि केवल तीन विक्रमों का उल्लेख है।[३९] वामन का विष्णुपद नामक स्थान से विशेष संबंध भी रहा है।[४०]

२. वामन से विराट्

वामन एवं त्रिविक्रम मे ध्वनित अर्थ वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार इस प्रकार है– जो वामन था वह वस्तुतः अपने भीतर विष्णु का रूप लिए हुए था।[४१]

३७. भारतीय मूर्तिकला—रायकृष्णदास, सं० २०१६, पृ० ११३, अनुच्छेद ८२ (१)।

३८. कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, भाग ३, टेक्स्ट एंड ट्रांसलेशन, पृ० ३५, पंक्ति ५।

३९. डी० सी० सरकार इसे चतुर्दिशाओं की विजय मानते हैं (सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृष्ठ २८६ पाद टिप्पणी २) किंतु सिंधु तुखानि एवं वाह्लिक को अलग अलग मानने में औचित्य नहीं है।

४०. महाभारत ७, ८३ ९५, तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम्।

४१. शतपथ ब्राह्मण १।२।५।५, वामनो ह विष्णुरास।

विष्णु वामन थे। वे विक्रम करने से विराट् हुए। जो विक्रम करता है वह भी विष्णु की तरह वामन से विराट् हो जाता है, वह महान् बनता है और लोक में फैलता है।[४२] भारतीय राजनीतिशास्त्र के अनुसार राजा विष्णु का स्वरूप है।[४३] जिस प्रकार विष्णु के यशोवीर्य का गान किया जाता है उस प्रकार राष्ट्र में विक्रम करनेवाले राजर्षियों की कीर्ति का बखान भी राष्ट्रीय अभ्युदय के लिये आवश्यक है। त्रिविक्रम का गान प्रजाओं का धर्म है।[४४] इन बातों का मेहरौली अभिलेख के प्रथम श्लोक की रचना मे ध्यान रखा गया है। शत्रुओं को हराकर शासक ने विष्णु के 'शत्रुजित' नाम [४५] को भी सार्थक किया है।

३. देवत्व की प्राप्ति

अभिलेख का दूसरा श्लोक [४६] वस्तुतः एक ऐसे शासक की प्रशस्ति है जो देवत्व की प्राप्ति कर चुका है, अधिक स्पष्ट रूप से यह कि जो ईश्वर का अवतार माना जाता है। श्लोक मे इस बात को वर्णित करने का प्रयास किया गया है कि राजा स्वयं विष्णुस्वरूप है। इस प्रकार शासक पृथ्वी पर देवलोक का निवासी है। यह भी कहा गया है कि उस देवत्व को प्राप्त हुए शासक द्वारा संपन्न किए गए कार्यों का यश अभी भी पृथ्वी पर व्याप्त है। श्लोक मे अंतर्हित यह अर्थ ठीक उसी प्रकार का है जैसा कि समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति के "**सर्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्त-निखिलावनितलां कीर्त्तिमितस्त्रिदशपतिभवनगमनावाप्तललितसुख विचरणामाचक्षाणा**"अंश का, किंतु अंतर यह है कि प्रयाग प्रशस्ति मे यश को देवलोक म गया हुआ एवं समुद्रगुप्त को पृथ्वी पर कहा गया है [४७] और मेहरौली

४२. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, विक्रमांक, पृ० १७।

४३. विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य, आस्पेक्ट्स आफ अर्ली विष्णुइज्म जे० गोंडा, (विष्णु एंड किंगशिप), पृ० १६४-६७।

४४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, विक्रमांक, पृ० १६।

४५. विष्णुसहस्रनाम, श्लोक १०१।

४६. कार्पस इंस्क्रिप्शनम इंडिकेरम, भा० ३, टेक्स्ट एंड ट्रांसलेशन, पृ० ६। पंक्ति २६-३०।

४७. प्रयाग प्रशस्ति समुद्रगुप्त के जीवनकाल की है और संभवतः उसके द्वारा अश्वमेध यज्ञ संपन्न करने के पहले की, जिसका उल्लेख प्रशस्ति में नहीं हुआ है। विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य बहादुरचंद्र छावड़ा का लेख इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भा० २४, पृ० १०४।

अभिलेख में राजा देवत्व की प्राप्ति कर देवलोक में एवं उसके यश को पृथ्वी पर व्याप्त कहा गया है। इससे यह कथमपि निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि वस्तुतः समुद्रगुप्त का यश देवलोक में ही था पृथ्वी पर नहीं और ठीक वैसे ही न तो यही कि मेहरौली अभिलेख में उल्लिखित शासक देवलोक में था पृथ्वी पर नहीं। इस श्लोक में कवि का अभिप्रेत अर्थ यह जान पड़ता है कि शासक मूर्त रूप में ही ईश्वरतत्व को प्राप्त हो गया है, किंतु इस स्थिति के पूर्व किए गए कार्यों में अर्जित यश अभी भी पृथ्वी पर व्याप्त है। यह यश उन कार्यों का है, जो मानव स्थिति में शासक द्वारा संपन्न किए गए थे। ऐसा जान पड़ता है कि कवि शासक के यश अर्जन के फलस्वरूप उसके द्वारा देवत्वप्राप्ति का संकेत कर रहा है जैसे कि गुप्त शासकों को परोक्ष रूप से स्वर्ग विजेता अथवा अधिकारी कहा गया है।[८] मूर्त रूप में ही देवलोक पहुँचने का एक अच्छा उदाहरण बुद्ध का है। उनका एक वर्षावास वस्तुतः उनका गुप्त वर्षावास है किंतु उनमें देवत्व के आरोप के हेतु उन्हें स्वर्ग में स्थित माना गया है।

दूसरे श्लोक के तीसरे एवं चौथे चरण में शासक ने जैसे विष्णु के 'शत्रुतापन' नाम की ही सार्थकता सिद्ध की है।

४८. गुप्तकालीन मुद्राएँ–
समरशत वितत विजयो जितरिपुराजितो दिवं जयति, पृ० ११; राजाधिराजः पृथिवीं विजित्य दिवं जयात्याहृतवाजिमेधः, पृ० ४७; अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैर्दिवं जयति, पृ० ३८; अप्रतिरथो विजित्य क्षितिमवनीशो दिवं जयति, पृ० ४८; काचो गामवजित्य दिवं कर्मभिरुत्तमैर्ज्जयति, पृ० ५६. क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः, पृ० ६०, विजितावनिरव-निपतिः कुमारगुप्तो दिवं जयति, पृ० ११४. क्षितिपतिरजितो विजयी कुमार-गुप्तो दिवं जयति, पृ० १२३; क्षितिपतिरजित महेन्द्रः कुमारगुप्तो दिवं जयति, पृ० १३०, गामवजित्य सुचरितैः कुमारगुप्तो दिवं जयति, पृ० १२८, विजिता वनिरवनिपतिः श्री स्कन्दगुप्तो दिवं जयति, पृ० १८०; नरेन्द्रसिंह चंद्रगुप्तो पृथिवीं जित्वा दिवं जयति, पृ० ८२; वसुधां विजित्य जयति त्रिदिवं पृथिवीश्वरः पुण्यैः, पृ० ६८; विजितावनिरवनिपतिः कुमारगुप्तो दिवं जयति, पृ० १६०; परहितकार राजा जयति दिव श्री विक्रमादित्यः, पृ० १७१; विजितावनिरवनिपतिः श्री स्कन्दगुप्तो दिवं जयति, पृ० १८१; विजितावनिर-वनिपतिर्जयति दिव स्कन्दगुप्तोयं, पृ० १८०, विजितावनिरवनिपतिः श्री बुधगुप्तो दिवं जयति, पृ० १९४, विजित्य वसुधां दिवं जयति, पृ० १९८।

४९. विष्णुसहस्रनाम, श्लोक १०१।

४. शासक का नाम एवं उसके माध्यम से विष्णु का वर्णन

तीसरे श्लोक में शासक का नाम दिया गया है। उसका नाम था चंद्र जिसकी मुखछवि पूर्ण चन्द्र के सदृश थी।[५०] वह विष्णुभक्त था एवं उसने विष्णुपद पर्वत पर विष्णुध्वज स्थापित किया। इस श्लोक में सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि शासक के पराक्रम, सौंदर्य एवं धर्मनिष्ठा का वर्णन है। किंतु, यदि हम ध्यानपूर्वक इस श्लोक का अध्ययन करें तो यह ज्ञात होगा कि वस्तुतः वर्णन एक राजा मात्र का नहीं बल्कि भगवान् विष्णु का है।

श्लोक में एक अंश **'समग्रचन्द्र सदृशीम्'** पर अध्येताओं का ध्यान आमंत्रित है। यहाँ कवि ने चन्द्र शब्द के माध्यम से अनुप्रास, उपमा, यमक एवं श्लेष अलंकारों का संगुफन किया है। चन्द्र नामक शासक की मुखछवि के लिये पूर्णचंद्र की उपमा रखते हुए चंद्रमा के लिये प्रयुक्त चन्द्र शब्द में श्लेष को अंतर्निहित करके रचयिता ने राजा चंद्र को स्वयं विष्णु के रूप में देखा क्योंकि चंद्र से विष्णु का भी बोध होता है। यदि श्लोक का यह अर्थ भी माना जाय कि पूर्णचंद्र की मुखछवि होने के कारण वह चन्द्र कहा जाता था, तो भी कवि के अलंकार प्रदर्शन में कमी नहीं जान पड़ती।

चन्द्र से विष्णु के बोध के संबंध में कैवल्योपनिषद् का मंत्र उद्धृत करना उपयुक्त होगा—

> **स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।**
> **स विष्णुः स प्राणः कालोग्निः स चन्द्रमा।।** १।८

ऐसा जान पड़ता है कि ईश्वर के चन्द्र एवं चंद्रसंबंधी नामों का प्रारंभ इसी प्रकार की भावना के परिणाम है, जिनके साथ अन्य बहुतेरी बातें जोड़ दी गईं और पौराणिक साहित्य में संभवतः इसलिये चंद्रमा का बहुतेरे देवताओं से संबंध हो गया। उपर्युल्लिखित भावना के अनुसार चन्द्र से ब्रह्मा, शिव एवं विष्णु तीनों देवताओं का बोध होना चाहिए। किंतु, समयानुसार चंद्रमा के साथ किसी विशेष देवता के नाम का प्रसिद्ध होना भी असंभव नहीं जान पड़ता। चंद्र का विष्णु से संबंध प्राचीन काल से ही जान पड़ता है। ५वीं शती में विष्णु के नाम चंद्र एवं चंद्र के पर्याय ज्ञात होते हैं। उदाहरण के लिये अमरकोश में दिए गए चंद्रमा के चंद्र, चंद्रमा, कुमदबान्धव, सुधांशु, सोम, शशधर एवं नक्षत्रेश[५१] पर्यायों की छाया ५वीं

५०. डी० सी० सरकार का शासक का नाम 'देव' होने का सुझाव (सेलेक्ट इंस्क्रिप्संश, पृ० २७४, पाद टिप्पणी ३) उचित नहीं जान पड़ता।

५१. अमरकोश १।३।१५-१७।

शती के विष्णुसहस्रनाम में दिए गए विष्णु के चंद्रांशु, अमृतांशूद्भव, शशबिंदु, नक्षत्री, सोम, कुमुद एवं अमृतांशु[52] नामों में द्रष्टव्य है। अमरकोश[53] एवं मेदिनीकोश[54] में विष्णु शब्द चंद्रमा एवं विष्णु दोनों के लिये आया है। शब्द-रत्नावली में तो चंद्र का एक अर्थ ही 'हरि' दिया हुआ है।[55] इस प्रकार स्पष्ट है कि विष्णु को चंद्र से अभिहित करने की परंपरा रही है।

५. 'समग्र चन्द्रसदृशीं वक्त्रश्रियं' से विष्णु का बोध

चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशीं वस्तुतः चंद्र नामक शासक के विष्णुतत्व का बोधक है। अब प्रश्न 'वक्त्रश्रियं बिभ्रता' का आता है, जिसके साथ 'समग्र-चन्द्रसदृशीं' के चन्द्र शब्द का अर्थ केवल चंद्रमा लेना पड़ता है। लेकिन इस पूरे अंश के विष्णुपरक होने की सार्थकता तब सिद्ध होती है जब हम यह ज्ञात होता है कि विष्णु का एक नाम 'चंद्रवक्त्र' था।[56] पूर्णचंद्र के सदृश मुखकांति का वर्णन भी वस्तुतः राजा चंद्र को विष्णु के रूप का ही कहने का एक प्रयास है, गरुड़ पुराण में विष्णु को पूर्णचंद्र की मुखछवियाला वर्णित किया गया है।[57]

६. 'विष्णुध्वज' : विष्णुस्वरूप शासक चंद का स्तंभ

चंद्र नामक शासक ने विष्णुध्वज की स्थापना की। यह रोचक विषय है कि अभिलेख में देवता विष्णु की प्रशस्ति में एक भी श्लोक नहीं लिखा गया है, अभिलेख चंद्र नामक शासक की प्रशस्ति है। यद्यपि बेसनगर के गरुड़ध्वज स्तंभलेख से[58] ऐसा जान पड़ता है कि ध्वजप्रस्थापना के लेखों में प्रस्थापक द्वारा ध्वज की स्थापना

५२. विष्णुसहस्रनाम, श्लोक ४३, ४४, ६०, ६७, ७५, ७९, १०० । अमृतांशु के स्थान पर इस पाठ में अमृतांशो है।

५३. अमरकोश, चंद्रमा के लिये १, ३, १६, विष्णु के लिये १, १, २३ ।

५४. वाचस्पत्यम्, १९६२, भा० ६, पृ० ४६०९; शब्दकल्पद्रुम १९६१ भाग ४, पृ० ३९८ एवं ४५३ ।

५५. शब्दकल्पद्रुम, भा० २ पृ० ४२७ ।

५६. अच्युतं सबलं 'चन्द्रवक्त्र' व्यासपरावरम् । पद्मपुराण, भू० खं० ८७।१४ ।

५७. पूर्णचन्द्रनिभः शंखः कौस्तुभस्यचतुर्भुतिः । गरुड़ पुराण, अध्याय ११; शब्दकल्पद्रुम भा० ४, पृ० ४५३ पर उद्धृत ।

५८. सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस, पृ० ९० ।

मात्र का उल्लेख होता था और संप्रदाय के देवता की प्रशस्ति में मंगलाचरण जैसी कोई परंपरा न थी, किंतु मेहरौली अभिलेख के गुप्तकालीन[५९] होने के कारण यह अपेक्षा की जाती है कि प्रशस्ति में मंगलाचरण श्लोक होना चाहिए। मेहरौली अभिलेख वस्तुतः इस परंपरा का निर्वाह करता है। चंद्र को ही विष्णु के रूप में मानकर इस अभिलेख में विष्णु की प्रशस्ति की गई है। शासक ने जो पराक्रम किए वे विष्णु के पराक्रम के समान ही थे। वह मूर्तावस्था में होते हुए भी देवत्व को प्राप्त था। इस प्रकार विष्णुध्वज वस्तुस्थिति में ऐसे शासक का ध्वज है जिसके रूप में स्वयं विष्णु थे, जिसका नाम चंद्र था। यह चंद्र नामक राजा का ध्वज ठीक उसी प्रकार विष्णु का ध्वज कहा गया है जिस प्रकार समुद्रगुप्त के प्रयाग स्तंभ को पृथ्वी की भुजा कह दिया गया है— **भुवो बाहुर्यामुच्छ्रितो स्तंभः।**[६०]

७. विष्णुस्वरूप विष्णुपद स्थान से वामन विष्णु का संबंध

चंद्र ने विष्णुपद पर्वत पर यह धार्मिक कार्य किया। इस पर्वत पर चंद्र का स्वामित्व रहा होगा। वैशाली में प्राप्त कुछ मुहरों पर नारायण को विष्णुपद का स्वामी कहा गया है— श्री विष्णुपद स्वामी नारायण।[६१] विष्णुपुराण के अनुसार विष्णुपद विष्णुस्वरूप स्थान ही है।[६२] मेहरौली अभिलेख में **'विष्णुपद'** के साथ 'प्रांशु' शब्द जुड़ा हुआ है, जो विष्णु का एकनाम है।[६३] **'प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ'** में कवि का अभिप्रेत अर्थ 'विष्णुस्वरूप विष्णुपद पर्वत पर' जान पड़ता है। महाभारत के अनुसार वहाँ धार्मिक कृत्य किए जाने का बड़ा ही महत्व है। वहाँ वामन भगवान् के ध्यानार्चन का महत्व कहा गया है।[६४] मेहरौली अभिलेख में भी पहले वामन विष्णु या विष्णु के रूप में शासक के त्रिविक्रम की गाथा कही गई है।

५९. वही, पृ० २७५, पादटिप्पणी १।
६०. कार्पस इंस्क्रिप्शनम इण्डिकेरम, भा० ३, टेक्स्ट एंड ट्रांसलेशन, पृ० ६ पंक्ति ३०।
६१. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भा० २, १९५२, पृ० २७३।
६२. शब्दकल्पद्रुम, भा० ४, पृ० ४५८, वाचस्पत्यम्, भा० ६, पृ० ४६३५।
६३. विष्णुसहस्रनाम, श्लोक ३०।
६४. तत्र विष्णुपदे स्नात्वा अर्चयित्वा च वामनम्।
सर्वपाप विशुद्धात्मा विष्णुलोकं स गच्छति॥
—महाभारत, ७।८३।१५।

८. विष्णुभक्त को विष्णुत्व की प्राप्ति

चंद्र विष्णुभक्त था अतः वह विष्णुस्वरूप माना जाता रहा होगा। पद्मपुराण में निर्देश है कि विष्णु की भक्ति में लीन व्यक्ति विष्णु ही हो जाता है।[65] गरुड़ पुराण विष्णुभक्त को विष्णु जैसा ही पूज्य कहता है।[66]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अभिलेख में उल्लिखित चंद्र नामक शासक वस्तुतः विष्णु का अवतार माना गया है।

निष्कर्ष

ऊपर हम देख चुके हैं कि **गुप्तकालीन विष्णुस्वरूप शासक** चंद्रगुप्त द्वितीय ही **है,** जिसके नाम में चंद्र शब्द है। अतः निष्कर्ष स्वरूप यह प्रतिपादन अनुचित नहीं जान पड़ता कि चंद्रगुप्त द्वितीय विष्णु के अवतार के रूप में विख्यात था और मेहरौली अभिलेख की रचना भी इसी परंपरा का अनुमोदन करते हुए की गई है, अतः चंद्र नामक स्वयं विष्णुस्वरूप गुप्तकालीन शासक के रूप में तत्कालीन जनश्रुति को ध्यान में रखते हुए मेहरौली अभिलेख का चंद्र महान् गुप्तशासक चंद्रगुप्त द्वितीय ही हो सकता है।

*

६५. प्रातः पठन् जपन् ध्यानम् विष्णोर्नाम यथा तथा।
मुच्यते नात्र संदेहः स वै नारायणो भवेत्॥

पद्मपुराण, उत्तर खंड, ८२।२९।

६६. स विप्रेन्द्रो मुनिः श्रीमान् स ज्ञातः स च पण्डितः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा हरिः॥

—गरुड़ पुराण, अ० २३१, शब्दकल्पद्रुम, भा० ४, पृ० ४५९ पर उद्धृत।

पौराणिकी

उपन्याससम्राट् स्व० पं० किशोरीलाल गोस्वामी [जन्म सं० १६२२–निधन सं० १६८६] से हिंदीसेवी संसार मुख्यतः उपन्यासकार के रूप में सुपरिचित है। यह कदाचित् कम ही लोग जानते होंगे कि उन्होंने एक सतसई भी रची थी जो अबतक अप्रकाशित है। उनके सुपुत्र स्व० छबीलेलाल गोस्वामी ने अपने देहावसान से कुछ मास पूर्व उक्त सतसई श्रीराधाविनोद गोस्वामी को प्रकाशनार्थ दी थी किंतु अद्यावधि उसका प्रकाशन नहीं हो सका।

पूरी सतसई स्व० श्रीछबीलेलाल गोस्वामी के द्वारा सुपाठ्य अक्षरों में डिमाई आकार की छह कापियों तथा २२७ पृष्ठों पर लिखी हुई है। प्रथम पृष्ठ पर दो दोहे लिखने के पश्चात् पादटिप्पणी में लेखक के हाथ की ५ टिप्पणियाँ इस प्रकार है—

(१) भक्ति विषयक ७०६ दोहे हैं।
(२) श्री किशोरीलाल गोस्वामी कृत है।
(३) छबीलेलाल गोस्वामी संपादित है।
(४) छपने पर मूल्य ॥) होगा।
(५) सरकार को ग्रामों के लिये ।) चार आने में दी जायगी।

—छबीलेलाल गोस्वामी ३१।७।३६

[भक्ति सतसई का प्रथम बार पत्रिका में धारावाहिक प्रकाशन श्री राधाविनोद गोस्वामी के सौजन्य से हो रहा है। —संपादक।]

॥ श्रीः ॥

भक्ति सतसई

(दोहा)

जय जय श्री राधा रमन, जयजय श्रीव्रज चंद।
जय जय श्री जसुमतिसुवन, जय जय श्री नँदनंद ॥ १ ॥

जय श्री वृंदा बिपिन नव, जय श्रीकुंज ललाम।
जय श्रीजमुनाकूल सुभ, जयश्री गिरिवर धाम ॥ २ ॥

जय ब्रज मंडल नवल नव, जय ब्रजजन अभिराम।
जय जल थल नभचर निकर, जय तरु लता ललाम ॥ ३ ॥

जय श्रीहरि लीला सुधा सागर गुरु - गंभीर।
जय रस भाव तरंग मय, जन मन पावन नीर ॥ ४ ॥

नचत सदा जहँ प्रेममय, घनमन मोर अधीर।
दामिनि कामिनि सहित घनश्याम निरखि दृगकोर ॥ ५ ॥

कहत कछुक अनुपम कथा, बानी बपु धरि कीर।
सुनि सुनि गुनि रस रासि सुनि, बाढ़त पुलक सरीर ॥ ६ ॥

निज जीवन, जीवन करन, सफल सच्चिदानंद।
ब्रजमंडल मंडन परम, प्रगटे पूरनचंद ॥ ७ ॥

नेति नेति जेहि बेद कह, सूत्र कहत अव्यक्त।
सोई निज जन हित हरी, प्रकट भए हैं व्यक्त ॥ ८ ॥

मन बानी गोचर नहीं, दुरतिक्रम, मग ध्वांत।
श्रुति कुंठित, स्मृति प्रहत गति, अगम सूत्र सिद्धांत ॥ ९ ॥
निजमति अनुसरि बिबिध बिध, भाखत बुद्धिनिधान।
पै कोऊ करि सकत नहिं, साँची प्रभु पहिचान ॥१०॥

पड़े सकल भ्रम तिमिर मग ज्ञान गरूर बढ़ाइ।
बुद्धि बिबेक बिहाइ निज, हृदय भरे कुटिलाइ ॥११॥
श्रीमुख गीता गीत सुभ, मारग परम पुनीत।
दुरमति बस तजि अधम जन, चलत पंथ बिपरीत ॥१२॥

जनम जनम करि करि जतन, ज्ञान गर्व हिय धारि।
पावत नहिं हरि चरन सुभ, जन रज तम बल हारि ॥१३॥

प्रगट रजोगुन तें प्रबल, काम क्रोध रिपु रूप।
इनके पाले परि मनुज, परत रहत भव कूप ॥१४॥

द्वार तीन ये नरक के, काम क्रोध अरु लोभ।
इनके बस पड़ि मूढ़ जन, नित गति लहत असोभ ॥१५॥
पड़े राग बिक्षेप महँ, मूढ़ जीव भरपूर।
भलो बुरो समुझत नहीं, अधम आलसी कूर ॥१६॥
घटै धरम, बाढ़ै जबहिं, अति अधरम अनिवार।
करुना करि अवतरत तब, अखिल भुवन करतार ॥१७॥
करै कामना रहित नित, सबै काम धरि चेत।
करि अधीन मन, मनुज फल, अरपै हरिहिं सहेत ॥१८॥

जनम जनम करि बहु जतन, ज्ञानी तरत सुनात।
भक्ति भाव भावुक सुमट, जीवन मुक्त लखात ॥१६॥

भक्ति भाव भूखे प्रभु, रीझत सरल सुभाव।
निज जनतें राखत न कछु, मोहन मनहिं दुराव ॥२०॥

क्यों भटकत भ्रमजालमहँ, अरे मूढ़मति जीव।
छाँड़ि सबै जंजाल तू, लै रस सरस अतीव ॥२१॥

कर्म रु ज्ञान उपासना, श्रुति त्रिकांड यह आहिं।
पै बिनु साँची भक्ति हरि, कबहूँ रीझत नाहिं ॥२२॥

श्रीहरि मैं सब भाँति जो, परानुरक्ति लखाइ।
शुद्ध, कामना तें रहित, सोई भक्ति कहाइ ॥२३॥

मनहिं लगावै मनुज जो, मनमोहन मैं मीत।
पावै सोई अमृत फल, मंगल मूल पुनीत ॥२४॥

हरि बिमुखन हूँ कौं सदा, होत हरी को ज्ञान।
यातें भक्तिहिं ज्ञान नहिं, कोऊ कहत सुजान ॥२५॥

पूरन भक्ति भएँ सदा, ज्ञान गर्व नसि जात।
पै कबहूँ नहिं भक्ति को, होत बिनास लखात ॥२६॥

द्वेषभाव, प्रतिकूल अरु, रसमय सिद्ध स्वरूप।
भक्ति कहावत है अहो, कोउ अनुराग अनूप ॥२७॥

भक्ति, साधकाधीन नहिं, ज्ञान कर्म की भाँति।
मिलन हेतु याकौ परम, श्री हरि कृपा दिखाति ॥२८॥

अहो, भक्ति के फलन कौ, अंत नहीं, सुनु यहि।
श्रुति सारद बिधि सेस सिव, बरनि सकत नहिं जेहि ॥२९॥

सब साधन क्षयमान हैं, मानवकृत जग माहिं।
भक्तिरूपिनी हरि दया, होत कबहुँ क्षय नाहिं ॥३०॥

अमित जनम के अंत कहुँ, ज्ञानी होत जु सिद्ध।
पावत श्रीहरिधाम तब, लहि हरिकृपा प्रसिद्ध ॥३१॥

यही ज्ञान को फल अहै, भक्ति मुक्ति की रासि।
अनायास ही तेहि लहत, जे हरिजन अबिनासि ॥३२॥

ज्ञान किए ही होत है, भक्ति, नहीं यह बात।
बिना ज्ञान हूँ निज जनन, बिसरत हरि यहि तात ॥३३॥

ज्ञान कर्म योगादि मैं, भक्ति अपेक्षित आहि।
याही तें सबतें परे, भक्ति प्रधान कहाइ ॥३४॥

केवल ज्ञान किए कबौं, मुक्ति लहै नहि जीव।
अहै अपेक्षित तासु मैं, श्रीहरि भक्ति अतीव ॥३५॥

याही तें यह मुख्यता, लहि भक्ति सब भाँति।
याकी सब साधन विषैं, उपयोगिता दिखाति ॥३६॥

हैं ज्ञानादिक अंग अरु, अंगिनि भक्ति कहाइ।
अंग कछू नहिं करि सकत, बिन अंगी मति पाइ ॥३७॥

साधनमात्र कहावहीं, ज्ञानादिक सब कर्म।
भक्ति अमृतफल रूप है, यही भागवत धर्म ॥३८॥

अंगी के आधीन हैं, सबै अंग, जग जान।
रहत अंग सब कर्मरत, निज अंगी मति मान ॥३९॥

ज्ञानमात्र ही फल अहै, यह नहि ठीक कहाय।
फल ज्ञानादिक कर्म को, केवल भक्ति लखाय ॥४०॥

थिर नहिं साधन मात्र हैं, यह प्रत्यक्ष दिखात।
पै, पाएँ हरि भक्ति, यह कबहूँ नाहिं नसात ॥४१॥

ज्ञानमात्र पुरुषार्थ यह, बात अल्पमति मान।
ज्ञानमात्र तें मुक्ति नहिं, होत कबहुँ सच जान ॥४२॥

नर कौं नारी नारि कौं, नर पहिले लखि जानि।
अपने मन अनुरूप गुनि, प्रीति करत पहिचानि ॥४३॥

समुझहु यह दृष्टांत, का सुगम सिखावन रीति।
ज्ञान नहीं फल प्रीति को, ज्ञानहिं कौ फल प्रीति ॥४४॥

औरहु अचरज की कथा, सुनहु मीत ! चित लाइ।
बिना ज्ञानहूँ होत है, अविचल मंजु मिताइ ॥४५॥

देखहु अति अज्ञान सिसु, जननी लखि हुलसात।
मातृभाव को जदपि नहिं, वा महँ भाव लखात ॥४६॥

स्वप्न तथा दरसन श्रवन, करि उपजत जो प्रीति।
कहा ज्ञान की गंध तहँ, यही भक्ति की रीति ॥४७॥

प्रीति भए पाछे जहाँ, होत परस्पर ज्ञान।
तहँ ज्ञान नहिं करि सकत, प्रीति पुष्टि यह जान ॥४८॥

याते यह जनि जानिए, अहै प्रीति फल ज्ञान।
ज्ञान होय, या होय नहिं, उपजत प्रीति सुजान ॥४६॥

कछु नहिं गुरुता ज्ञान की मेरे जान दिखाति।
ब्रज जीवन बिन ज्ञान ही, मुक्ति लही सब भाँति ॥५०॥

ब्रह्म ज्ञान कछु नहिं रह्यो, गोपीजन मन माँहि।
तदपि लही जो इन गती सो कोउ पाई नाहिं ॥५१॥

ज्ञान होत है भक्ति तें, कोउ अस कहत सुजान।
याते ज्ञान विराग की, माता भक्ति बखान ॥५२॥

कोउ अस भाखत तत्वबित, मनन सील मतिमान।
अहै सहायक भक्ति में सात्विक निर्मल ज्ञान ॥५३॥

ईश्वर विषयक ज्ञान जब, लहत मनुज मतिमान।
भक्ति मार्ग मैं होत हैं, तजै प्रवृत्ति महान ॥५४॥

ब्रह्मभाव लहि होत जब मानस मगन अतीव।
तब नहिं सोचत अरु नहीं कछु चाहत यह जीव ॥५५॥

सब जीवन को मीत नित, परम पुलक मन सांत।
परा भक्ति तब लहत है, सुकृती जीव नितांत ॥५६॥

यातें सिद्ध भयो परम, भक्तिहि को अंगित्व।
या सम ज्ञानादिकन कौ, नेकहुँ नाहिं महित्व ॥५७॥

मातु पिता द्विज देव गुरु, भक्ति जदपि है भक्ति।
तदपि ईश विषयक कही, भक्ति परा अनुरक्ति ॥५८॥

या सम अन्य न भक्ति है, अखिल भुवन महँ मीत।
निज प्यारे हूँ तें अधिक हरि तें करिए प्रीति ॥५९॥

यही कहावत जगत मैं, भक्ति अनन्य उदार।
हरि विषयक त्रिभुवन विदित, सकल सूत्र श्रुति सार। ६०॥

सबतें परे जहान मैं, श्री हरि भक्ति लखाय।
ज्ञानादिक सुभ योगहूँ, जातें न्यून कहाय ॥६१॥

योग सहायक भक्ति मैं, होत भक्ति तें योग।
यातें होत विराग जो, सो नासत भव रोग ॥६२॥

अहै भक्ति वह 'मुख्य' जो, परा कहावति मीत।
अपरा 'गौण' कहावती, जग मैं परम पुनीत ॥६३॥

पहलें अपरा होइ, जेहिं, पावैं सिद्ध समाधि।
पाछें परा मिलै जबै, मिटै आधि औ व्याधि ॥६४।

कोऊ नर सुकृती लहै पराभक्ति कौं पाय।
जबैं दया करि दीन पैं, श्री हरि होत सहाय ॥६५॥

दुखद राग है, जानि यह भक्तिहि गनहु न हेय।
यह तो ईश्वर विषय रति, सब भाँतिन सुख देय ॥६६॥

घटै बढ़ै लागैं छुटै, संसारी रति मीत।
बढै सदाई ईश की, निर्मल प्रीत पुनीत ॥६७॥

तप अरु ज्ञान जु कर्म तें, 'योग' बड़प्पन पाय।
ताहू तें अतिशय बड़ी, श्री हरि भक्ति कहाय ॥६८॥

चिंतत 'अक्षर ब्रह्म' जो, सो बहु सहत कलेस।
पै हरि भक्ति बिना स्रमहिं, बितरत मुक्ति असेस ॥६९॥

श्रद्धा सम, नहिं भक्ति है, नहिं श्रद्धा ही भक्ति।
कर्मी आदिक की रहति, श्रद्धा माहिं प्रसक्ति ॥७०॥

श्रद्धा त्रिगुणमयी सदा, जीवन की जग होति।
जैसी श्रद्धा जासु की, तैसी ता मति होति ॥७१॥

श्रद्धा मानस धर्म है, जो धारत निरधार।
सोई श्रद्धावान है जो निज धरत विचार ॥७२॥

त्रिगुणातीत अहै जथा ब्रह्म, परम श्रुति मूल।
तथा परे है गुनन तैं, पराभक्ति अनुकूल ॥७३॥

राजस तामस होति नहीं, समुझि लेहु मन मीत।
अहै सात्विकी भक्ति यह, सबतें परे पुनीत ॥७४॥

श्रद्धा परे बखानिए प्रेम लक्षणा भक्ति।
जो बिन स्वारथ होति है, अविचल हरि अनुरक्ति ॥७५॥

'कर्मकांड' आवागमन, नेक न मेटत देखु।
'ज्ञानकांड' हु मैं अहै, अमित जन्म को लेखु ॥७६॥

यातें कह्यौ उपासना कांड परम रमनीय।
जातें नवधा भक्ति की, होत छटा कमनीय ॥७७॥

भक्ति राजसी नाहिं, अरु, नाहिं तामसी होति।
रज तम मय ताकौं कहत, श्रद्धा जो मन होति ॥७८॥

जबै सतोगुन के उदै, मानस निर्मल होय।
तबै पाइ मोहन कृपा, भक्ति लहत जन कोय ॥७६॥

पहिले अपरा पावई, भक्ति मनुज बड़ भाग।
पुनि कीने अनुराग अति, परा लहत रसपाग ॥८०॥

ऐसेहू देख्यो सुन्यो, परै, जगत में मीत।
प्रथमहिं पावै भागभट परा भक्ति मन जीत ॥८१॥

नाहिं मुख्यता ज्ञान की, ताहीं ते मुनिराज।
'जिज्ञासा किय ब्रह्म की'[1] थापन भक्त समाज ॥८२॥

है त्रिकांडमय वेद तें, गीता अधिक महान।
जामैं थापन भक्ति को, कियो आपु भगवान ॥८३॥

है प्रवृत्ति तब लौ अवसि, बुधि हेतुन की मान।
जबलौं ब्रह्म विषै नहीं, उपजत निर्मल ज्ञान ॥८४॥

नहीं कृत्य निष्पाद्य है, ब्रह्म सुदरसन मीत।
तौहू स्रवनादिक जतन, हैं जग परम पुनीत ॥८५॥

पैए सब साधन जतन, तबही लौं जिय जान।
जबलौं अविचल होत नहिं, श्री हरि भक्ति सुजान ॥८६॥

धान तबहिं लौं कूटिए, जबलौ तुष बिलगाय।
ऐसें हीं ज्ञानादिकऊ भक्ति होन लौं भाय ॥८७॥

जैसे स्रवनादिकन को, परम भक्ति महँ काम।
तैसेई सतसंग को, ठाम सदा सुखधाम ॥८८॥

बिन गुरु काज सरै नही, यह जानहु मन लाइ।
यातें सतगुरु खोजिए, जगत बीच हरखाइ ॥८९॥

सत चित आनँदघन सरिस, परम मगन मन मीत।
संसयछेदन निपुन हरि, भक्ति निरत गत भीत ॥९०॥

जब श्री हरि करुना करैं, तबैं मिलैं गुरुदेव।
जो समुझाइ सकैं परम, गुप्त भक्ति के भेव ॥९१॥

बिनु गुरु हू, कोऊ कृती, पराभक्ति को पाय।
श्रीहरि कृपा भएँ जथा, गोपिन कथा बताय ॥९२॥

1. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (ब्रह्म दर्शन व्यास सूत्र)

सकलैश्वर्य समेत हैं, एक मात्र भगवान।
उनकी सेवा करन ही, जीव कर्म जग जान ॥९३॥

आत्मज्ञान किए मिलैं, चाहे सिद्ध महान।
पै बिन भक्ति, न पावई, जीव परम कल्यान ॥९४॥

श्रुति प्रतिपादित सिद्ध यह, ईश्वरांश है जीव।
ईश्वर सब सामर्थ्यमय, जीव अशक्त अतीव ॥९५॥

जो कछु अहै विशेषता, ईश जीव के माँहि।
सो सब सत संगत किए, निर्मल ज्ञान बताहि ॥९६॥

स्वाभाविक ऐश्वर्य्य है, सदा ईश को देखु।
पै वह पास न जीव के, प्रगट जगत मैं पेखु ॥९७॥

मनसा वाचा कर्मणा, सेवा करन सहेत।
यही जीव को कर्म है, जो चारिहुँ फल देत ॥९८॥

निष्ठा सहित द्रवै हृदय, सब भाँतिन गहि जाहि।
सत रज तम मय, जग बिदित, श्रद्धा सोई कहाहि ॥९९॥

ईश जीव दोऊ अहैं, अविनाशी, सब जान।
बद्ध मुक्त, ये जीव के, हैं द्वै भेद सुजान ॥१००॥

सब जीवन की एक ही, समय न मुक्ति बखान।
वह तो क्रम क्रम होत है, निज कृत कर्म प्रमान ॥१०१॥

प्रलय काल मैं होत जो, मुक्ति जीव की तात।
वह नहि मुक्ति बखानिए, जहँ बासना लजात ॥१०२॥

बिना वासना के छुटे, मुक्ति लहै नहिं जीव।
बिना कृपा भगवान की, कहँ सुख मिलै अतीव ॥१०३॥

नाहिं अंत है बुद्धि को, याते जो धीमान।
सत्य तत्व पहिचानहीं सत संगहि लहि ज्ञान ॥१०४॥

(?) सुर जन नहिं जानई, कौन ईश को जीव।
का माया यह जगत का, का दुख का सुख सीव ॥१०५॥

या माया तैं छूटि जो, रज तम जीति सुजान।
सरन गहत, ते तरत हैं, भवसागर मतिमान ॥१०६॥

ज्ञानरहित, दूषित मती, हेतुवाद रत जीव।
पुनि पुनि परत कुयोनि मैं, भव दुख सहत अतीव ॥१०७॥

यातें सतगुरु ज्ञान लहि ह्वै हरि सरन सहेत।
भक्ति भाव तें तरत भव, पावत अचल निकेत ॥१०८॥
सब साधन को त्यागि अब, श्री हरि सरनहि जाहु।
नसैं पाप सब आपतें, परम मुक्ति को लाहु ॥१०९॥
सब तजि हरि भजु भावतें, क्यों भव भ्रमत अजान।
सब पापन तें मुक्त करि, मुक्ति देत भगवान ॥११०॥
क्यों माया मैं भ्रमि रहे, खोइ सुमति, ह्वै कुंद।
या जीवन को लाभ यह, भजहुँ सहेत मुकुंद ॥१११॥
कोटि जतन रचि पचि करौ, ह्वै है सदा अकाज।
एक भाव तें हरि भजे, सुधरि जात सब काज ॥११२॥
जगत जनक है ईस जग करता सोइ कहाय।
अमितामित कल्यान गुन, बा मह सहज लखाय ॥११३॥
यातें वामैं नेकहू, जानहु नाहि विकार।
वाकी लीला अगम कहुँ, जानी जाति अपार ॥११४॥
करि निज प्रकृतिहिं विकृत वह, जग सिरजत करतार।
यातें वामहँ नेकहूँ, ह्वै नहि सकत विकार ॥११५॥
जैसें मायावी करत, वस्तुन विकृति प्रचार।
पै निज जुगुतिहिं आपुनहि, नेकहुँ लहत विकार ॥११६॥
तैसेंई यह ईस को, करतब अजब दिखाय।
करता ह्वै हु आप जल, कमल सरिस रह भाय ॥११७॥
पय के कारज सरिस लखु, ईस विकृत नहिं होय।
कंचन सम तेहि जानिये, सदा एक रस सोय ॥११८॥
वामहँ रहत निहारिये, जीव सत्व बलवान।
अंस ईस को जो अहै प्रकृति परे जो बखान ॥११९॥
अहै प्रतिष्ठा ईस की, लखु गृह पीठ समानु।
पीठ रु तापर थित दोऊ, घर भीतर ही जानु ॥१२०॥
यातें प्रकृति विकार तें, जग माया महँ नाहिं।
माया अरु संसार दोउ, थित हैं ब्रह्महि माहिं ॥१२१॥
यह विवेक अति कठिनतर, बुद्धिगम्य अतिरम्य।
ज्ञान योग तें जात कछु, जान्यो ब्रह्म प्रणम्य ॥१२२॥

भक्ति भयें नसि जात सब, भेद भाव अति पोच।
कृपा लहैं हरि की मिटैं, भव बंधन के सोच ॥१२३॥

कोटि जन्म के सुकृत सब, उदय होत जब आन।
तब करुना करि देत निज, भक्ति जनहिं भगवान ॥१२४॥

जोग जग्य तप दान के, तज रे गर्व अथोर।
भक्ति बिना नहिं नेकहूँ, रीझत नंदकिसोर ॥१२५॥

जग सिरजन कारन उभय, माया ब्रह्म बखान।
प्रकृति पुरुष में भेद नहिं, समुझहु सुमति सुजान ॥१२६॥

काहू बस्तुहुँ की नहीं, प्रकृति रहति है भिन्न।
है स्वभाव जो जासु कौ, सो है तासु अभिन्न ॥१२७॥

याही भाँति बखानिये, प्रकृति ब्रह्म को मेल।
एक होयहूँ प्रथक सौं, प्रगट दिखावत खेल ॥१२८॥

जगत न मिथ्या जानिये, माया कार्य निहारि।
सत्य ब्रह्म की शक्ति हूँ, समुझहु सत्य बिचारि ॥१२९॥

अपरा परा बिभेद तें, द्विविध ब्रह्म की शक्ति।
तिनके भेद सुनौ अबै, करि हरि में अनुरक्ति ॥१३०॥

अनिल अनल जल गगन छिति, मन बुधि त्यों हंकार।
अपरा प्रकृति कही समुझि, हरि की आठ प्रकार ॥१३१॥

ये आठो अपरा कहीं, इनतें परा सु आन।
जीवमयी चैतन्य की, चेतन प्रकृति बखान ॥१३२॥

ब्रह्महिं जड़ नहिं जानिये, त्रिगुनातीत शरीर।
यातें प्रकृति न तासु की, जड़ कहिये मति धीर ॥१३३॥

लखहु महामाया रचय, अदभुत खेल अनंत।
जन मन मोहन कारिनी, जो ग्रसि सकति न संत ॥१३४॥

ब्रह्म प्रकृति कौं कबहुँ नहिं, मिथ्या जानहु मीत।
ब्रह्म सत्य जिमि है यह, तिमि है सत्य अमीत ॥१३५॥

ब्रह्मऽरु माया जीव ये, त्रिबिध ब्रह्म कहि जात।
हैं त्रिसत्य ये इनहिं नहिं, मिथ्या गनिये तात ॥१३६॥

अश्रुपात रोमांच अरु, गदगद बानी आदि।
परा भक्ति के जानिए, स्थायी भाव अनादि ॥१३७॥

अपरा हू मैं होत हैं, ये लच्छन कछु मीत।
पै दिखाति इनकी छटा, प्रगटे परा पुनीत ॥१३८॥

इन लच्छन ते होत है, प्रगट प्रेम को भाव।
कैसो कितनो कौन को, कामें प्रगटित चाव ॥१३९॥

साधारन है भाव अरु, बढे कहाइ सुभाव।
सोऊ होइ असुख जब, तबै कहाइ कुभाव ॥१४०॥

ईश्वर निष्ठ कुभावहूँ, मंगल करत हमेस।
जैसे गोपीजन लहो, रति करि सुगति असेस ॥१४१॥

सत्य अहै अथवा असत, आपुहिं प्रेम लखाय।
याको साँचो भेद सब, थायी भाव बताय ॥१४२॥

भक्ति भाव के भेद भल, भावुक भक्तहि जान।
जिनके है आधीन नित, रहत मगन भगवान ॥१४३॥

सकल चराचर जगत है, श्री हरि के आधीन।
भक्ति भाव भूखे प्रभू, भक्ताधीन प्रवीन ॥१४४॥

अष्ट सिद्धि नव निधि परम, पूरन पद अधिकार।
दीनेहूँ चाहत नहीं, श्री हरि भक्त उदार ॥१४५॥

भक्त भलो भगवान को, जानत भावुक भाव।
भक्त वश्यता ताहि तें, आपुहि श्रीमुख गाव ॥१४६॥

श्री हरि भजन बिना नहीं, परत चैन हिय माँहि।
एकहु छन जो पाइए, व्यर्थ खोइए नाहिं ॥१४७॥

अनगिन लच्छण हैं कहे, प्रीति बिसय के मीत।
सुनहुँ मनन पुनि करहु गुनि, या मारग की रीति ॥१४८॥

अर्जुन सम सम्मान करु, श्री हरि चरन सुजान।
करहु बहुरि बहुमान ज्यों, नृप इक्ष्वाकु बखान ॥१४९॥

प्रीति बिदुर की पेखिये, बिरह गोपिका तुल्य।
अनपेक्षा त्यों अन्य की, ज्यौं उपमन्यु अमूल्य ॥१५०॥

महिमा ख्याति जु अन्य की, ब्रज जीवन सम जान।
ताही हित निज प्राण की, धारण करण बखान ॥१५१॥

बलि सी कही तदीयता, तद भावहिँ प्रह्लाद।
अनुकूलता सराहिये, ऊधव सी साह्लाद ॥१५२॥

या विध भाव अनंत हैं, प्रीति रीति के तात।
श्री हरि बिन दूजो अहो, जग को अन्य लखात ॥१५३॥

प्रेमलक्षणा भक्ति है, भरित परम अनुराग।
द्वेष जहाँ, तहँ भक्ति नहि, का रति जनक विराग ॥१५४॥
शिशुपालादिक की भई, मुक्ति भक्ति तें नाहिँ।
महिमा बल भगवान के, कारन या थल माँहि ॥१५५॥

द्वेषादिक नहिँ होत हैं, भक्तन के हिय माहिँ।
प्रेमरूपिणी भक्ति यह, जहाँ द्वेष तहँ नाहिँ ॥१५६॥

हरि अवतारादिकन मैं, गुण रूपन मैं मीत।
हित चित व्यूहादिकन मैं, करिये भक्ति पुनीत ॥१५७॥

त्यों आचार्यादिकन मै हरि सम भक्ति सहेत।
करिये, यातैं रीझिहैं, निश्चय रमानिकेत ॥१५८॥

जो जानत भगवान के, जन्म कर्म परपूत।
सो तिहिं पावत तुरतही, तरि भव सागर भूत ॥१५९॥

जन्म कर्म हैं ईश के, दिव्य लखौ चित लाइ।
केवल अपनी शक्तिवश विविध प्रकार लखाइ ॥१६०॥

हरि के जन्मादिकन मैं, तिनकी करुणा मुख्य
काहू के अनुरोधवश, होत न वह अभिमुख्य ॥१६१
अपनी करुणावश हरी अमित दया उर लाइ।
जीवन के उद्धार हित, प्रगटत जित तित आइ ॥१६२॥

भक्ति करहु भगवान की, नहिँ जीवन की तात।
प्राणिन में कीने भगति, नहिं परमार्थ दिखात ॥१६३॥

द्यूत राजसेवादि जो, कहीं विभूति अनंत।
उनहिं नमत पै भक्ति नहिं उनकी करते संत ॥१६४॥

नहि विभूति ही जानिये, वासुदेव को मीत।
वह तो नभ सिन्ध तें सदा, आनंद रूप पुनीत ॥१६५॥

जैसे सिकता रचित जो, मूर्ति होय कोउ तात।
ताके कर चरणादि सब, मधुरहि मधुर लखात ॥१६६॥
तैसे ही भगवान के, सब आकार अतीव।
परम सच्चिदानंदमय, त्रिगुणातीत असीव ॥१६७॥

वासुदेव भगवान की, परब्रह्मता सिद्ध।
सघाधित (साधित ?) श्रुति सूत्रादि तें त्रिगुणातीत अविद्ध ॥१६८॥
है विभूति महँ कथन जो, वासुदेव कौ तात।
सो यादव कुल श्रेष्ठता, हेतु विशुद्ध लखात ॥१६९॥
या भाँतिन रामादि जो, श्री भगवत अवतार।
नहिं विभूति मति कीजिये उनमें हठि अनुसार ॥१७०॥
भक्तिभाव है गहन अति, बिन हरि कृपा मिलै न।
शुद्ध भाव तें रीझि हिंहि, वितरत करुणा पेन ॥१७१॥
चितै हरषि इमकोर तें अपनावत भगवान।
ऐसे दीनदयाल तजि, भटकत किते सुजान ॥१७२॥
परा भक्ति भगवंत की, पावत सुकृती सोय।
जापै करुणा कछुक हूँ, करुणाकर की होय ॥१७३॥
अपरा पहिले होत है पाछे परा सु होय।
गौण भक्ति बिन मुख्य जग बिरलो पावत कोय ॥१७४॥
सेवादिक जग जानिये, गौण भक्ति महँ कर्म।
याही तें सब मुख्य के प्रगट होत शुभ मर्म ॥१७५॥
मुख्य भक्ति के जे अहैं, साधन बाधक तात।
गौण भक्ति महँ वे सबै, बिनु श्रम आपुहिं जात ॥१७६॥
तबै होत है सिद्ध यह, परा भक्ति सब भाँति।
याके पाये लहत जन, प्रमुदित हरिजन पाँति ॥१७७॥
परा भक्ति है ईश में, अचल अमल अनुराग।
श्रवण भजन कीर्तन जपन, विषय भोग को त्याग ॥१७८॥
परा भक्ति साधन कहे, सहित उपासन आदि।
लहि याको सब सिद्ध भे, शंकर शेष अनादि ॥१७९॥
गौणी भक्ति पवित्रता, मन की करै बनाइ।
पाछे उपजे हृदय में, परा भक्ति सुखदाइ ॥१८०॥
अपरा के जे अंग हैं, तिनको क्रमहिं उद्योत।
जैसे गृह निर्माण में नेव द्वार लुत होत ॥१८१॥
होत श्रवण गुण गण प्रथम, ता तें श्रद्धा जोय।
ततो भजन सेवन नमन, जुगति जतन करि होय ॥१८२॥

इनके कीने होत है, परा भक्ति की सिद्धि।
जाके पायें होत है परम राग की वृद्धि ॥१८३॥

भक्ति भाव के भेद को, जानत भक्त महान।
जिनके हिय राजें सदा, भावुक श्री भगवान ॥१८४।

बहु साधन में एकहूँ. साधन किये सहेत।
शुद्ध भाव तें रीझि हरि, परा भक्ति निज देत ॥१८५॥

सकल शुभाशुभ कर्म कों, अर्पण हरिपद माँहि।
करत भक्त जो सो कथहुँ, बंधन पावत नाहिं ॥१८६॥

ज्ञान यजन आदिकन तें, या जन्मन के अंत।
लोक लोक में भ्रमि कहूँ, मुक्ति लहत हैं संत ॥१८७॥

किंतु कर्मफल त्याग करि हरि पद निरत सुधीर।
सपदि मुक्ति लहि पुनि नहीं, पावत हैं भवपीर ॥१८८॥

उत्तम भक्ति वही कही, स्वाभाविक जो होय।
हठवश कीन्हें ताहि जग, सहज न पावे कोय ॥१८९॥

नाम रूप गुण कर्म हैं. हरि के अतुल अनंत।
निज निज रुचि अनुसार ही, ग्रहण करत तेहि संत ॥१९०॥

श्री हरि के जा रूप में, होय सहज अनुराग।
ध्यान धारिये ताहि को सरस रुचिर रस पाग ॥१९१॥

जो स्वाभाविक नाहिं अरु रुचि विरुद्ध हठ दुष्ट
ध्यान होत नहिं सिद्ध सो, सहजहिं अनरस पुष्ट। १९२॥

यातें जो मन को रुचै, सोई करिये ध्यान।
होत सकल अनुराग तें, अति प्रसन्न भगवान ॥१९३॥

भक्ति भक्त भगवान की, महिमा बरनि न जाय।
अमित जन्म के सुकृत बल, इनहिं मनुज कोउ पाय ॥१९४।

यज्ञादिक में कामना, हिंसादिक बहुदोष।
या तें श्री भगवान कों, यजन सदा निर्दोष ॥१९५॥

यजन शब्द तें जानिये, भगवत पूजन मीत।
सकल कामना रहित सत, करिये परम पुनीत। १९६॥

सकल चराचर जगत को, यह व्यवहार दिखाय।
सेवा के बदले कछुक, देत मँजूरी भाय ॥१९७।

तौ कैसे नहिं देइहैं, सेवा फल मतिमान।
याते बिन कछु याचना, किये भजहु भगवान ॥१९८॥
भगवत पादोदकहिं नहिं, चरणोदक कहु भाय।
या चरणोदक कों अबै, मिलिबो कहाँ लखाय ॥१९९॥
या तें जो भगवान कौं, स्नानोदक शुभ मीत।
चरणामृत कह ताहि सब, पावन करन पुनीत ॥२००॥
स्नानोदक हूं ते अहो, स्नान होत पुनि मीत।
लै गंगोदक भक्त जन, हरिहिं नहाय सप्रीत ॥२०१॥
पै पुनि स्नानोदकहिं तैं, स्नान न प्रभु को होय।
जानत हैं हरिभक्त या, गूढ़ तत्व को कोय ॥२०२॥
चरणोदक में चरण की, नहिं मुख्यता लखाय।
शालग्रामार्चन उदक, चरणामृतहि कहाय ॥२०३॥
श्री हरि चरणोदक प्रगट, गंगा त्रिभुवन गाय।
वाहू तें भगवान कौं, स्नानोदक मन भाय ॥२०४॥
या रहस्य को जानई, अंतरंग जे भक्त।
जो मन बानी कर्म तें, श्री हरि पद अनुरक्त।२०५॥
खान पान मन दान जग, जो कछु करौ पुनीत।
सो सब श्री हरि को प्रथम, करौ समर्पण मीत।२०६॥
भलो बुरो जो कछु करो, कर्म जगत में आइ।
सो सब श्री हरिचरण में, करो समर्पण धाइ ॥२०७॥
करो समर्पण प्रथम ही, चित हित सहित बनाइ।
श्री हरि महाप्रसाद पुनि, ग्रहण करो शिर नाइ ॥२०८।
सकल वस्तु गोपाल की जदपि अहै जग जानि।
तदपि समर्पण करि प्रथम पुनि तेहि ग्रहण विधान ॥२०९॥
भक्ति भाव ते सरस नहिं, अन्य भाव जग पाव।
ता सम नहिं कोउ करि सकै, सुंदर सहज बनाव ॥२१०॥
भक्ति भाव में पगि रहै, चहै न कछु मतिमान।
सहै सहावै दैव जो, लहै तवै भगवान ॥२११॥
अपराधी यह जीव नित, करत विविध अपराध।
परै दंडवत हरि चरण, तबै मिटै सब व्याध ॥२१२॥

या विधि विनवै श्रीहरिहिं, करि दंडवत प्रणाम।
छमहु सकल अपराध प्रभु, देहु चरण विश्राम ॥२१३॥
ऐसें साचें मन विनय, तीनें (कीनें, करुणा धाम।
छमहु सकल अपराध प्रभु, देत चरण थल ठाम।२१४॥

है अष्टोत्तर सहस जे, हरि सेवा-अपराध।
उनमें अष्टोत्तर शतक, मुख्य कहावत, साध ॥२१५॥
तासु बहत्तर, तासु पुनि, चौसठ तासु बतीस।
सेवा कृत अपराध जेहि, छमत सदाई ईस॥ १६॥

पापपुंज यह जीव है पापहरन भगवान।
याते श्री हरिचरण नित, ध्यावहु सहित सुजान ॥२१७॥
भगवत सेवा में कहे, जे अपराध अनेक।
तीन भाँति के वे अहैं, समुझहु सहित विवेक ॥२१८॥

एक वहै जो होत है, कारण वश न कुभाव।
दूजे जिनके करन को, है सो गयो स्वभाव ॥२१९॥
तीजे वे जो भूलतें, होइ जात अपराध।
ये सब सरन गहे मिटै, जो संतत सुख साध २२०॥

एक अनिच्छा जनित हैं, दूजे कारण जन्य।
तीजे स्वाभाविक कहे, जानहु भक्त अनन्य ॥२२१॥
पत्र पुष्प फल तोय अरु, रत्न कोटि को दान।
भक्ति भाव अर्पण किये, सम मानत भगवान ॥२२२॥
भक्ति भावमें जे करत, अर्पण पुष्पहु एक।
ताकी समता नहिं करत, हाटक कोटि अनेक ॥२२३॥

शुद्धि भावसे सर्वदा, रीझत हैं भगवान।
राजस तामस दान नहिं, ग्रहण करत श्रीमान ॥२२४॥
जो कछु या संसार में, करहु सहज तुम काम।
सो सब श्री भगवान कों, अरपहु सहित प्रनाम ॥२२५॥
कारण अपरा भक्ति है, परा भक्ति की मीत।
हरि हित सब साधन सदा, पावन करत पुनीत ॥२२६॥

अपरा भक्ति कही मुनिन, थिर करि विविध प्रकार।
भक्त जानिये भक्ति रत, जग में चार प्रकार ॥२२७॥

विमर्श

'बूढ़े मुँह मुहासे' लोग देखें तमासे—संपुष्टि

ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ६७, अंक ३, में— बूढ़े मुँह मुहासे, लोग देखें तमासे की मौलिकता के विषय में डा० सत्येंद्रकुमार तनेजा ने छानबीन की है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वह माइकेल मधुसूदन दत्त की रचना **'बूड़ो शालिकेर'''** का अनुवाद है। तनेजा जी की यह गवेषणा तथ्य है।

इस तथ्य को पहले पहल भारतेंदु जी ने अपने 'नाटक' नामक ग्रंथ में दिया है, जहाँ उन्होंने 'हिंदी नाटक तालिका' के अंतर्गत **बूढ़े** मुँह मुँहासे······को स्पष्टतः— **'बूड़ो शालिकेर'''का अनुवाद'** लिखा है।

इसी प्रकार आचार्य द्विवेदी जी ने भी सरस्वती में, माइकेल की जीवनी में इस तथ्य का पुनः उद्घाटन किया **है**।

इत्थं डा० तनेजा की खोज निर्विवाद ही नहीं, **'पूर्वैः पूर्वतरैं कृतम्'** भी है।

—कृष्णदास

गूजर 'जाट' और 'नाग'

गूजर और जाट मूलतः पर्वतीय (पशु-पालक) वर्ग हैं। अहीर (<आभीर) भी इसी श्रेणी में हैं। हम यहाँ 'जाट' तथा 'नाग' की व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे। 'गूजर' तो स्पष्टतः 'गोचर' हैं—गौ चरानेवाले। आज भी गूजर लोग जाड़े में हिमालय की चोटियों से नीचे उतर आते हैं और हरिद्वार कनखल आदि के सामने तलहटी में डेरे डालकर पड़े रहते हैं। चार महीने बढ़िया ताजा घी-मक्खन हरिद्वार-कनखल वालों को मिलता रहता है। होली करके फिर ये ऊपर चढ़ने लगते हैं। ये सब मुसलमान गूजर हैं। कभी मुसलमान हो गए होंगे। परंतु गौ को ये अब भी मानते हैं, यद्यपि घी के लिये भैंसें अधिक पालते हैं।

'जाट'—पहाड़ी जन

'जाट' भी किसी समय 'शिव' (हिमालय) की जटाओं से, जटिल चोटियों से नीचे उतर कर आए थे; गंगा की ही तरह। फिर ऊपर नहीं गए! यहीं नीचे रम गए और पशुपालन के साथ-साथ कृषक बन गए, क्षत्रियत्व भी ग्रहण किया। किसी समय भरतपुर के जाटों ने दिल्ली को दहला दिया था। मेरे ब्रजभाषा दोहों का

जो संग्रह 'तरंगिणी' नाम से सन् १६३४ में प्रकाशित हुआ था, उसमें एक दोहा यह भी है—

फाटक दिल्ली-दुर्ग के, किए धका दै भंग।
तिन जाटन के छिलत हैं, अब खादी सो अंग॥

हम यहाँ शब्द व्युत्पत्ति बतलाना चाहते हैं; बस। सो, बतला चुके कि जटाओं से, हिमालय की चोटियों से, नीचे आने वाले लोग—'जाट'।

निश्चय ही पहले यह विशेषण होगा—'पहाड़ी' की तरह। आगे चलकर संज्ञा बन गया और विशेषण भी—हिंदू जाट, सिख जाट, मुसलमान जाट।

विशेषण और भी हैं, जो संज्ञा बन गए हैं। 'नीला रंग' मे 'नीला' विशेषण है न? वह संस्कृत 'नील' में ही अपनी पुंविभक्ति लगाकर बना है। परंतु 'नीलम' एक संज्ञा है। 'नीलम'–रत्नविशेष। यह 'नीलम' फारसी आदि का शब्द नहीं, संस्कृत 'नीलम्' का स्वरात रूप है; संज्ञा के रूप मे। संस्कृत मे नील के पौधे को 'नीली' कहा है। जैसे कमल के पौधे को 'कमलिनी'। आयुर्वेद के ग्रंथों मे जहाँ रत्नों के 'शोधन' की विधियाँ लिखी हैं वहाँ—'**नीलं** नीलीरसेन तु' लिखा है। यानी 'नीलमणि' को नीली-रस से शोधन करना चाहिए। स्पष्ट ही 'मणि' का विशेषण '**नील**' है। नीलो मणिः; नीला शाटिका, नीलं नभः। यहाँ 'नीलमणि' को ही '**नीलं**' कहा है। दूकान पर खरबूजों की फसल में लोग पूछते हैं–'लखनऊ का क्या भाव है?' लखनऊ का खरबूजा 'लखनऊ'। जब कोई विशेषण संज्ञा के रूप मे प्रयुक्त होता है, तब (संस्कृत मे) प्रायः 'नपुंसक लिंग' मे रहता है। ऊपर 'नीलम्' कर्म-कारक वैसा ही है। 'संस्कृत' विशेषण है—'संस्कृतमन्नम्' 'सस्कृता वाक्'। परंतु भाषा के प्रकरण मे 'संस्कृता वाक्' की जगह जब केवल 'संस्कृत' का प्रयोग हुआ तो 'नपुंसक लिंग'—'संस्कृतम्'। संस्कृतम्—संस्कृत भाषा। इसी तरह 'नीलमणिः' की जगह जब (मणि प्रकरण मे) 'नील' मात्र का प्रयोग हुआ, तो नपुसकलिंग—'नीलम्'। यही 'नीलम्' फिर 'नीलम' संज्ञा लोकभाषा में। इसी तरह 'जाट' विशेषण संज्ञा बन गया है। इसी तरह—'नाग' **मूलतः** विशेषण है 'नाग' एक नृवंश भी है और साँप को भी 'नाग' कहते हैं। हाथी को भी 'नाग' कहते हैं और काच को भी 'नाग' कहते हैं। ये सब संज्ञाएँ हैं हिंदी मे। परंतु मूलतः ये सब विशेषण हैं। 'नग' संस्कृत में पहाड़ को कहते हैं। नग के प्राणी या चीज 'नाग'। 'नागः क्षत्रियः'-पहाड़ी क्षत्रिय; 'नागः सर्पः'—पहाड़ी साँप, 'नागः करी'—पहाड़ी हाथी, 'नागः काचः'–पहाड़ी शीशा।

आर्य और किरात

हिमालय के ऊपर 'किरात' लोग रहते थे, जिनको आजकल 'मंगोलियन' कहते हैं। कटिबंध में कहीं आर्य और कहीं किरात थे; जैसे कि आज कल नेपाल तथा

तिब्बत आदि हैं। किरातों के दबाव से आर्य लोग नीचे भी उतर आते थे और तब उन्हें यहाँ के लोग 'जाट' 'नाग' आदि कहते थे। पाकिस्तानी उपद्रव से जब हिंदू लोग इधर आए, तब बसने में कहीं कहीं कुछ कशमकश भी हुई थी। ठीक उसी तरह 'जाट' तथा 'नाग' आर्य नीचे उतरे, तब कुछ आपसी संघर्ष हुए होंगे। इन्हीं संघर्षों को लोगों ने 'युद्ध' की संज्ञा दे दी है! किरातों के युद्ध हुए जरूर आर्यों से; पर वे ऊपर ही हुए। नीचे तो (किरात-संघर्ष से) त्रस्त होकर जो आर्य (जाट-नाग आदि) यहाँ आए थे, उनसे (यहाँ पहले से बसे हुए) आर्यों के संघर्ष हुए होंगे और फिर शांति! जैसे एक वेगवती नदी समुद्र में मिलती है, तब तरंगें उठती हैं; फिर शांत।

—किशोरीदास वाजपेयी

हिंदी के ऐकार और औकार का उच्चारण एवं लिखन

हिंदी में ऐकार और औकार के उच्चारण एवं लिखन के विषय में एक व्यापक उलझन तथा भ्रम है। चूँकि इसकी देवनागरी वर्णमाला में 'अइ' और 'अए' दोनों उच्चारण ध्वनियों के लिये एक ही रूप ऐकार और वैसे ही 'अउ' और 'अओ' उच्चारण ध्वनियों के लिए एक औकार ही प्राप्त है। अतः लोग इन उच्चारणों को स्पष्ट करने के अपने प्रयास में बड़े ही असगत साधनों का सहारा लेते हैं। हिंदी के विद्वान् लेखक मान लेते हैं कि संस्कृत की ही तरह हिंदी में भी 'ऐ' का उच्चारण 'अइ' तथा 'औ' का उच्चारण 'अउ' होता है। अतः 'अओ' की ध्वनि निकालने के लिये प्रायः एक सांकेतिक चिह्न 'ॉ' का सहारा लिया जाता है अथवा केवल आकार का ही प्रयोग कर अभिप्रेत उच्चारण दिया जाता है या यों कहें कि उनका हिंदीकरण करने को हम मजबूर होते हैं क्योंकि 'अए' की ध्वनि के लिये स्यात अभी तक कोई मानक सांकेतिक चिह्न नहीं चला। अतः लोग यह ध्वनि निकालने के लिये अनेक तरीके अपनाते हैं।

यदि इस विषय पर विचार किया जाय तो स्पष्ट पता चल जायगा कि स्वयं हिंदी भाषा में ऐकार और औकार के उच्चारणों के वास्तविक व्यावहारिक प्रयोग में कोई उलझन नहीं। संस्कृत से सर्वथा भिन्न, हिंदी में 'ऐ' का उच्चारण सदा 'अए' और 'औ' का सदा 'अओ' होता है। 'कैसा' का उच्चारण कोई 'कइसा' कभी नहीं करता और न 'और' का उच्चारण 'अउर' किया जाता है। (पूर्वी उत्तर प्रदेश के जिलों में 'कइसा' और 'अउर' रूप भी बोलते हैं।—संपादक) हिंदी के निजी सभी शब्दों के विषय में यही बात लागू है। रहा संस्कृत शब्दों का सवाल सो आमतौर पर हिंदी बोलनेवाली सामान्य जनता संस्कृत शब्दों का उच्चारण भी अपने इसी साँचे में ढालकर करती है। जैसे 'औषधालय' का उच्चारण आप लोग संस्कृत की प्रणाली के अनुसार 'अउषधालय' न कर 'अओषधालय' ही करते हैं।

अतः यह स्पष्ट है कि हिंदी में व्यवहारतः 'ऐ' का उच्चारण 'अए' और 'औ' का 'अओ' ही होता है। संकट आता है विदेशी शब्दों की दिशा से, विशेषतः अँगरेजी शब्दों (जिनमें व्यक्तिवाचक संज्ञा भी संमिलित है) की ध्वनि निकालने में। यहीं पर हम हिंदी का यह निजी उच्चारण भूल जाते हैं या भुला देते हैं और हमें Atlas को एटलस या अटलस या ऍटलस; Kant को कंट, Aldous Huxley को एल्डुस या अल्डस या अल्डुस हक्सले, तथा Doctor को डाक्टर College को कॉलेज या कालेज और Lawrence को लॉरेंस या लारेंस लिखने की युक्ति सूझने लगती है। जबकि यथार्थ की दृष्टि से Atlas को ऐटलस, Kant को कैंट Aldous को ऐल्डुस तथा Docter को डौक्टर, College को कौलेज और Lawrence को लौरेंस लिखने से ही हमारा वास्तविक उद्देश्य सध जाता है।

यथार्थता से दृष्टि फेर लेने से ही सही उच्चारण निकालने के प्रयास में हम सही से बहुत दूर जा पड़ते हैं तथा यदि हमें मूल शब्द ज्ञात न हो तो उच्चारण से उसका उद्धार करना प्रायः असंभव हो जाता है। इस प्रकार हिंदी की वर्णमाला सभी शब्दों की शुद्ध उच्चारणध्वनि (कुछ नितांत अहिंदी ध्वनि—विदेशी तथा भारतीय भाषाओं की भी—अवश्य अपवाद हैं) निकालने में सक्षम नहीं प्रतीत होती। सबसे हास्यास्पद बात तो यह है कि अंगरेजी तथा फ्रांसीसी आदि भाषाओं में—जिनके शब्दों के उच्चारण प्रसंग में हम यह प्रमाद करते हैं--'अइ' और 'अउ' ध्वनि का कोई संकेत नहीं है। वहां ऐकार और औकार के प्रचलित हिंदी उच्चारण से हमारा अभिप्रेत सर्वथा सिद्ध हो सकता है। जहाँ तक संस्कृत शब्दों का संबंध है, संस्कृतज्ञ अवश्य हिंदी में भी उनका संस्कृत शैली से उच्चारण करने में स्वतंत्र हैं। पर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका, वह समस्या हमारे सामने है ही नहीं।

अतः हिंदी भाषा के के कर्णधारों का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं कि वे यथाशीघ्र यथार्थ व्यावहारिक उच्चारण को मानक रूप दें।

--ब्रजनंदन

संत रेण

मध्ययुग के जिन महात्माओं ने भारतीय धर्मसाधना और सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित किया, उनमें पंजाब के संतों का महत्व भी कम नहीं है। इस परंपरा में गुरु नानक तथा परवर्ती गुरुओं के साथ अन्य बहुत से संतों ने योगदान दिया। 'संत रेण' इसी श्रृंखला के एक प्रसिद्ध संत थे, जिन्होंने देश के विभिन्न भागों में धर्म-प्रचारार्थ भ्रमण ही नहीं किया, वरन् साहित्यसाधना द्वारा भी अपने मत का प्रतिपादन किया। दुर्भाग्यवश, पंजाब के अन्य साहित्यकारों की भाँति वे भी अभी तक पूर्ण रूप

से प्रकाश में नहीं आ सके। पतनोन्मुख भारतीय समाज के उत्थान के हेतु जिस प्रकार कबीर, नानक आदि संतों ने जाति पांति (वर्णाश्रम), रूढियों, अंधविश्वास, बाह्याचार, कंचन, कामिनी और मिथ्याडंबरों का विरोध एवं भर्त्सना की तथा लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि के वशीभूत न होकर सदाचार, संयम संतोष आदि का पालन करते हुए आध्यात्मिक साधना पर बल दिया था, ठीक उसी प्रकार संत रेण ने अपने काव्य में इन तत्वों का प्रतिपादन किया।

संत रेण 'उदासी' संप्रदाय के प्रमुख कवि, दार्शनिक एवं प्रचारक थे। उनका जन्म सं० १७६८ में पंडित हरिवल्लभ गौड़ के यहाँ श्रीनगर में हुआ था। शैशवावस्था में ही वे संसार से विरक्त होकर साधु हो गए थे और महाराष्ट्र, मद्रास, नेपाल, उत्तरप्रदेश (केदारनाथ) का धर्मप्रचारार्थ भ्रमण करने के उपरांत वृद्धावस्था में पंजाब में आकर भूदन (मालेरकोटला) में रहने लगे थे। यहीं पर रहकर उन्होंने 'श्री गुरुनानक विजय' ग्रंथ को पूर्ण किया और यहीं पर फाल्गुन के शुक्ल पक्ष की १२ तिथि सं० १९२८ को इनका देहांत हो गया।

संत रेण हिंदी के प्रमुख कवियों में स्थान पाने के अधिकारी हैं। उनके अंतिम ग्रंथ 'उदासी बोध' से पता चलता है कि उन्होंने पांच काव्य ग्रंथों का प्रणयन किया[1]। इन पाँच ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं —

१–मन प्रबोध, २–श्री गुरुनानक विजय, ३–गुरुनानक प्रबोध, ४–वचन संग्रह, (अनभय अमत ग्रंथ) और ५–उदासी बोध। इन काव्य ग्रंथों में 'श्री गुरुनानक-विजय एक वृहदाकार और उत्कृष्ट महाकाव्य है जो गुरुनानकदेवजी के जीवनचरित्र पर आधारित है। यह ग्रंथ हिंदी के सभी प्रबंध काव्यों में आकार में बड़ा और भाई संतोष सिंह के 'गुरु प्रताप सूरज' से कुछ ही छोटा है। यह बीस खंडों में विभाजित है और इसकी छंद संख्या २४३८२ है। इन सभी ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ संत रेण आश्रम, भूदन में सुरक्षित हैं। 'नानक विजय' ग्रंथ पर डा० हरभजनसिंह ने अपने शोध प्रबंध में कुछ प्रकाश डाला है। एक दो और विद्वान् इस ग्रंथ पर शोध कार्य कर रहे हैं। यहाँ पर हम इनकी दूसरी उत्कृष्ट रचना 'मन प्रबोध' पर संक्षेप में प्रकाश डालना चाहते हैं।

'मन प्रबोध' १३६ छंदों का एक विरक्ति प्रधान ग्रंथ है। इस ग्रंथ में संत रेण ने माया के विविध उपकरणों का विवेचन किया है और नारी को माया का प्रतीक माना है। उनके अनुसार कंचन और कामिनी दोनों ही दुर्गम घाटियाँ हैं, और उनसे सावधान रहने अथवा बचने का गंभीरतापूर्वक अनुरोध किया है। भगवत्

१. पाँच ग्रंथ कराइ गुर, हम ते आप सुजान।
जीवन की कल्याण हित, सतगुर आप सु मान॥ —उदासी बोध

प्राप्ति में नारी ही सबसे बड़ी बाधा है। इसका रूप आग और भुजंग का सा है। यह एक ही चितवन में सारे ज्ञान ध्यान को विनष्ट कर देती है। इसका रूप मन को मोहित करके टुकड़े टुकड़े कर डालता है। यह अबला होते हुए भी बिना तलवार बरछी के अत्यंत कठोर आघात करती है। यथा—

लख नाग सु आग समान तिनै
भुल के तिन संग न जात उचारे।
सब ज्ञान सु ध्यान भुलाइ दये,
निज नैनन कोर दिखाइ सु नारे।
निज रूप दिखाइ हरै मन को
चित के टुकड़े टुकड़े करि डारे।
इम संतहि रेण कहै अबला,
बिन ही बरछी तलवार सु मारे।

नारी के स्थूल शरीर के आकर्षण की भर्त्सना करते हुए वे लिखते हैं कि यह शरीर चर्म और मज्जा से भरा हुआ है। पर्वत की भाँति दूर से देखने पर यह सुंदर दिखाई पड़ता है और निकट जाकर देखने से वहाँ ज्ञानी पुरुष को मल और मांस के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखाई पड़ता, जिस प्रकार पर्वत पर काँटे और पत्थर ही देखने को मिलते हैं। यथा—

जिम दूरहु सैल लगै रमणीक,
भरे विच कंटकि पाहन सारे।
तिम दूरहु ते ललना रमणीक,
सु माहि भरा मल मास विकारे।

इस प्रकार संत रेण ने नारी के मोहिनी रूप को माया मानकर निंदनीय ठहराया है।

ऐसे ही धन से उत्पन्न अहंकार द्वारा मनुष्य के पतन पर भी संत रेण ने प्रकाश डाला है। धनी व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की उपेक्षा करता है और पाप तथा पुण्य का अंतर भूलकर मदोन्मत्त रहता है। वह धनहीनों की ओर निहारता भी नहीं और उनका अपमान करता है। धन एक अन्य प्रकार की व्याधि है जो मनुष्य को पाप में डाल देती है। पाप में लिप्त मनुष्य को फिर इससे छुट्टी कहाँ! इसलिये वे इस धनरूपी एक अन्य सांसारिक मोहिनी शक्ति के त्याग के लिये उपदेश करते हुए कहते हैं—

धनवानन को अभिमान बड़ो,
धनहीनन की वलि नाँहि निहारे।
धन के मद मे उन्मत्त रहे,
सु गनै न किसी वलि वाहि दिखारे।

अपमान करै इसका उसका,
कहु पाप न पुन (ब) गनै सु विचारे।
इन संतहि रेण कहे मन को,
धनवानन के मति जाहि दुवारे।

अत्यंत ही सहज शैली में संत रेण ने जो धनी व्यक्तियों के दुःखों का विवरण उपस्थित किया है वह वास्तव में धन की तुच्छता का ही द्योतक है। बाह्य ऐश्वर्य और ठाठ बाट से तो सभी धनवान अत्यंत सुखी, समृद्ध, वैभवशाली, प्रसन्नचित्त, शान और रोबदाब वाले प्रतीत होते हैं, परंतु विश्व में वास्तविक रूप से कोई भी धनवान सुखी नहीं। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत वे दुखों में रोते और जीवनयापन करते हैं। उनकी आत्मा सदा चिंताग्रस्त रहती है। ऐसे व्यक्ति जो स्वयं दयनीयता की प्रतिमूर्ति बने हो, उनसे परदुख निवारण की आशा करना मूर्खता है। क्योंकि—

धनवान दुखी सब ही जग में,
धनहीनन के दुख का नहिं पारे।
दुख मै जनमै दुख मॉहि मरै,
दिन रैन परै दुख माहि सु सारे।
नर आप दुखी जु अहै जग में,
पर का दुख सो नर काइ निवारे।
इम संतहि रेण कहै मन कों,
धनवानन के मति जाहि दुआरे।

संसार के सभी आकर्षणों का मुख्य केंद्र मन है। मन ही मनुष्य को प्रलोभनों, काम क्रोध आदि से अभिभूत करके सासारिक वासना में लिप्त होने के लिये विवश कर देता है। साधक जब इंद्रियनिग्रह द्वारा मन पर विजय प्राप्त कर लेता है तभी वह एकनिष्ठ होकर साधना मे लीन हो सकता है। मन, इंद्रियनिग्रह आदि पर सभी संतों ने बल दिया है। मनुष्य योनि सर्वश्रेष्ठ है। यह बार बार नहीं मिलती। यह दुकानों पर सस्ते अथवा मँहगे किन्हीं दामों पर भी नहीं खरीदी जा सकती। केवल मात्र ईश्वर की असीम अनुकंपा और अनुग्रह का ही यह फल है। मन से वे कहते कि ईश्वर चरणों मे ध्यान लगा, व्यर्थ विषय वासनाओं में फँसकर मानव जीवन का मूल्य न घटा। संत रेण ने मन को पतनोन्मुखी कुवृत्तियों का कारण मानकर मन की भारी भर्त्सना भी की है—

मन मानुष देहि मिलै न पुनै पुन,
देखि विचार भली प्रकारे।
ससती महँगी नहिं मोल मिलै,
नहि हाट बिकै नर देहि उदारे।

हर की किरपा करि एहु मिली,
तिस को बिरथी मत खोह गवारे।
इम इन संतहि रेण कहै मन को,
भज ले हरि को मन बारम बारे।

मन के इस दुराचरण से न केवल एक दो व्यक्ति दुखी हैं अपितु समस्त विश्व ही वेदनाविकल है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत सभी जीव इसके कुप्रभाव से दुखी हैं। सारा विश्व इसके वशीभूत होकर चीत्कार कर रहा है। कहीं भी सुख की झलक नहीं दिखाई पड़ती। इसे वश में करने का एक उपचार है कि इस चंचल मन को भगवत् चरणों मे लगाया जाय। दुःख का कारण अहंकार है। संतों को छोड़ कर शेष सभी जन कष्टापन्न हैं। कवि संत रेण लिखते हैं—

जितने मन जीव अहैं जग मे,
इक नाहि सुखी सु दुखी मन मारे।
दुख मै जनमै दुख माँहि मरै,
मद में दुख पाइ सु जीव अपारे।
नहि जाहि कही इक सतन की,
पर और दुखी सु सबै नर नारे।
इम संतहि रेण कहे मन को,
मन राम बिना दुख कौन निवारे।

वस्तुतः संत रेण के काव्य में भारत के मध्यकालीन भक्ति आंदोलन की परंपरा के सभी आधारभूत तत्वों का विशद प्रतिपादन हुआ है और तत्कालीन समाज का सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात् उसके परिष्कार और उत्थान के लिये माया, मोह, धन, अर्थ, काम आदि के निरोध पर बल दिया गया है। इन्हीं भावनाओं से 'मन प्रबोध' ग्रंथ अनुप्राणित है। संत रेण का सारा साहित्य ब्रजभाषा में लिखा हुआ है यद्यपि उनकी लिपि गुरमुखी है। मनप्रबोध भी ब्रजभाषा की रचना है और इसकी लिपि भी गुरमुखी है। गुरुमुखी लिपि मे होने के कारण उनका साहित्य अभीतक पूर्णतया प्रकाश में नहीं आ सका क्योंकि इस क्षेत्र मे अनुसंधान का अभाव रहा।

'मन प्रबोध' मे भगवत्प्राप्ति और सासारिक आकर्षणों के प्रति उदासीनता का भाव मुख्य तत्व है। इसकी भाषा सरल, परिमार्जित और प्रभावपूर्ण है। कहीं कहीं इसमें मुहावरों और अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है। इसमे, कवित्त, दोहा, सवैया, कुंडलिया, छप्पय, चौपाई, बरवा, भुजंगप्रयात, अड़िल, अमला, कीट, श्लोक आदि छंदों का ही प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त संत रेण ने दूसरे की बुराई निंदा, छल कपट, अपकीर्ति आदि को भी प्रबल दुर्गुण माना है।

संत रेण हिंदी और संस्कृत के विद्वान् थे। पंजाबी पर, मातृभाषा होने के कारण, उनका असामान्य अधिकार था। यही कारण है कि उनकी काव्यरचना में तीनों भाषाओं के शब्द पाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं उनकी भाषा में दक्खिनी के भी कुछ शब्द मिलते हैं परंतु मूलतः उनकी काव्यभाषा हिंदी ही है। धका, सन, खतरा, सवरणका आदि कुछ नए छंदों के नाम संत रेण ने दिए हैं। वस्तुतः इन छंदों के केवल नाम ही नवीन है मूलतः ये पुराने छंद हैं।

'मन प्रबोध' के अंतिम छंद से पता चलता है कि इस ग्रंथ के पूर्ण होने पर उन्होंने 'श्री गुरु नानक विजय' ग्रंथ का आरंभ कर दिया था।[1]

मन प्रबोध उनका सर्वप्रथम ग्रंथ होने के कारण उनके काव्य की भूमिका ही कहला सकता है, तो भी इसकी उत्कृष्टता से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि संत रेण कितने बड़े विद्वान्, भाषाविज्ञ, संत, सुधारक, धर्मप्रचारक, समन्वयवादी, युगप्रवर्तक, काव्यक्षेत्र म उद्बुद्ध कलाकार, छंद अलंकारों के ज्ञाता, महान मनीषि और चिंतक अध्यात्मवादी कवि थे।

—बैजनाथ सिंहल

जनमेजय पारीक्षित और उसकी राजधानी : स्पष्टीकरण

नागरीप्रचारिणी पत्रिका वर्ष ६६ अंक ४ में प्रकाशित 'जनमेजय पारीक्षित और उसकी राजधानी' शीर्षक मेरे लेख पर श्री वेदप्रकाश गर्ग ने 'विमर्श' के अंतर्गत पत्रिका के वर्ष ७० अंक २ में 'क्या जनमेजय पारिक्षित कुरु का पुत्र था ?' शीर्षक से कुछ प्रश्न उठाए हैं। उनका स्पष्टीकरण निम्न पंक्तियों में किया जा रहा है।

१—मेरे द्वारा भेजी गई टाइप की हुई प्रतिलिपि से लेख को कंपोज करते समय एक पंक्ति छूट जाने से सारी गड़बड़ी हुई है। अपने द्वारा प्रेषित प्रतिलिपि से प्रसंगोचित परिच्छेद उद्धृत कर रहा हूँ—

(पृष्ट ३ के आरंभ से) 'संवरण कई वर्षों तक सिंधु नदी के तट पर भटकता रहा। उसने विवस्वंत ऋषि की पुत्री तपनी से विवाह किया और वसिष्ठ नामक एक

१. नानक विजय ग्रंथ का, वार पार नहिं कोई।
संत रेण चाहो मैं करयो, हरि गुरु करैं सो होई॥
— मन प्रबोध, छंद १६६।

ऋषि की सहायता से अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया। तपती से उसका पुत्र कुरु हुआ। संवरण की शत्रुता पांचालों से बनी रही होगी और उसके पश्चात् भी चलती रही होगी। इसी लिये कुरु ने सरस्वती तथा दृषद्वती नदियों के मध्य भाग को आबाद किया जो उसी के नाम पर कुरुक्षेत्र कहलाया[१६] और उसकी तथा उसके वंशजों की धर्मभूमि बनी। कुरु का पुत्र **अविक्षित हुआ और फिर उसका पुत्र परिक्षित। इस परिक्षित् का** पुत्र था जनमेजय[१७]। पार्जिटर ने इस जनमेजय पारीक्षित को जनमेजय द्वितीय कहा है[१८]।"

उक्त अनुच्छेद की स्थूलाक्षरों में मुद्रित पंक्ति के न छपने के कारण ही यह सब हुआ। मैंने जनमेजय को कुरु का पुत्र नहीं लिखा। असंबद्धता का कारण स्पष्ट है। किसी भी वंशावली में जनमेजय को कुरुपुत्र नहीं माना गया है, इसमें मेरा कोई भ्रम नहीं।

२—आसंदीवत् को जनमेजय पारीक्षित् की राजधानी मानना कोई भ्रम नहीं है। शतपथ ब्राह्मण में इसके शोभावर्णन से स्पष्ट है कि यह एक सुंदर एवं समृद्ध नगर था, केवल यज्ञस्थल नहीं। यज्ञस्थल राजधानी के समीप ही होना चाहिए वहाँ से सैकड़ों मील दूर नहीं। आसंद हस्तिनापुर से पर्याप्त दूरी पर स्थित है और दोनों के मध्य दो तीन नदियां बहती हैं। प्राचीन काल में जब कि यातायात के साधन बहुत परिमित थे किसी राजा का हस्तिनापुर से कोसों दूर नदियों को पार करके यज्ञ करने जाना युक्तिसंगत नहीं है। आसंदीवत् में **आसंदी** शब्द इसके राजधानी होने का ही द्योतक है। प्रसिद्ध विद्वानों ने आसंदीवत् को राजधानी ही माना है, केवल यज्ञस्थल नहीं।

३— पृष्ठ ४३ पर लेख की १३वीं पंक्ति (नीचे से चौथी पंक्ति) में 'भी' शब्द, जो कि अनावश्यक है, प्रेषित मूल प्रतिलिपि में बिल्कुल नहीं है।

४—पृष्ठ ४६ पर लेख की १७वीं तथा २०वीं पंक्ति में 'के पुत्र' दो बार छपा है। मूल प्रतिलिपि में यह केवल एक बार टाइप किया गया है।

५—इतिहास की संदिग्ध समस्याओं के विषय में हमें पुनर्विचार करते समय आनुमानिक वाक्यों का प्रयोग करना ही पड़ता है। हम संभावनाओं को आश्रय बनाकर चलते हैं इसलिये निश्चयात्मक वाक्यों का प्रयोग प्रत्येक बात के लिये नहीं किया जाता। जब हमारी संभावना अन्य प्रमाणों से पुष्ट हो जाती है तो हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। ऐसा ही निष्कर्ष है आसंदीवत् आधुनिक आसंद को जनमेजय पारीक्षित् प्रथम की राजधानी मानना। यदि हम ऐसा नहीं मानते तो लेख में प्रस्तुत किए गए तर्कों का उत्तर देना कठिन हो जायगा।

—देवेंद्र हांडा

कुछ शब्दों का मनोरंजक इतिहास

मैं भाषाविज्ञान का आचार्य तो नहीं परंतु अध्येता अवश्य हूँ। शब्दों में रम लेता हूँ, उनसे बातचीत करने की कोशिश करता हूँ। पढ़ते समय अथवा मित्रों से चर्चा करते समय जब कुछ विशेष शब्दों पर ध्यान चला जाता है तो मुँह से अनायास उनकी व्युत्पत्ति निकल जाती है। मित्रों को और कभी कभी स्वयं मुझे अपने अनुमान पर विश्वास नहीं होता। बाद में जब शांत मन से उसका विश्लेषण करता हूँ तो अपने अनुमान की यथार्थता पर अभिभूत हो जाता हूँ। आवश्यक नहीं है कि विद्वान पुरुष मेरे अनुमान को स्वीकार ही करें अतएव उनसे विनम्र निवेदन है कि वे मेरे अनुमान की प्रामाणिकता अथवा अप्रामाणिकता पर विचार कर मुझे अनुगृहीत करें।

पहला शब्द 'घासलेट' है। इस का व्यवहार प्रायः केरासिन तेल के लिये किया जाता है। मेरा अनुमान है कि इसकी व्युत्पत्ति अंगरेजी गैसलाइट शब्द से हुई है। भारत में विद्युत् आने से पहले रोशनी के लिये गैसलाइट का उपयोग होता था। धीरे धीरे गैसलाइट शब्द घिसते घिसते घासलेट बन गया।

दूसरा हमारा चिर परिचित शब्द रोटी है। मजाक मजाक में एक मित्र ने उसकी व्युत्पत्ति पूछी। मुँह से फौरन निकला 'पुरोडाश्'। मित्र अविश्वास प्रकट करने लगे। कुछ आत्म विश्वास पूर्वक मैंने अपनी बात का विश्लेषण किया। मूल शब्द 'पुरोड' है और आश् उसमें बाद में जोड़ा गया है। पाणिनि ने 'पुरोड' और 'पुरोडाश्, दोनों का व्यवहार किया है। आधुनिक युग में महाकवि जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' में भोजन के लिये 'पुरोडाश' शब्द का व्यवहार किया है। वे भी शब्द के इस अर्थ से परिचित थे। कालांतर में 'पुरोड' में से 'पु' विलुप्त हो गया तथा शेष रहा रोड। रोड से रोट और रोट से रोटी बना। हनुमान जी के लिये चढ़ाई जानेवाली बड़ी रोटी को आज भी रोट कहते हैं।

राजस्थान के एक नगर में कविसंमेलन था। मैं अपने एक कवि मित्र के साथ भाग लेने गया हुआ था। उस नगर में सूअर के आकार वाले कुछ पशु फिरते हुए नजर आ रहे थे। सूअर में और इन पशुओं में यदि कोई अंतर था तो यही कि सूअर के दो दाँत बाहर निकले हुए होते हैं और इनके नहीं। वहाँ के लोग उन्हें अपनी भाषा में 'गंडूर' कहते थे। कवि मित्र को व्युत्पत्ति की जिज्ञासा हुई। मैंने उत्तर दिया 'ग्राम शूकर' से 'गंडूर' निष्पन्न हुआ है। राजस्थानी भाषा में माता और पिता दोनों के लिये 'माइत' शब्द प्रचलित है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत मातृ पितृ से है। राजस्थानी भाषा में कोई शब्द इतने परिवर्तन ग्रहण कर चुका है यह विश्वास नहीं होता। शब्द है 'हूत'। सू ध्वनि राजस्थान में 'ह' उच्चरित की जाती है।

शिवरात्रि से सिरात बना। सिरात का उच्चारण हिरात हुआ और शब्द अपनी यात्रा करते करते हूत बन गया।

उर्दू शब्द बुत को लीजिये। यह मूर्ति के लिये प्रयुक्त होता है। कौन विश्वास करेगा कि यह हमारे शांति के अवतार 'बुद्ध' का ही रूपांतर है। बौद्ध धर्म का प्रचार जब भारत के बाहर हुआ तब बौद्ध धर्म के सिद्धांतों के साथ बुद्ध की मूर्तियाँ भी गई। मुसलमान संस्कृति प्रधान देश उनको बुत कहने लगे और वही बुत शब्द घूम फिर कर पुनः भारत लौट आया।

अंगरेजी कौच (Couch) शब्द संस्कृत 'कुश' से बना है। प्रारंभ में बैठने के लिये कुश के ही आसन बनाए जाते थे। बाद में किसी ने बैठने के लिये कुश की कोचनुमा कुर्सी बनाई होगी इसी से उसका नाम कौच पड़ गया। रंग फेरने के साधन को आज भी हिंदी में कूची और अंगरेजी में ब्रुश कहते हैं। अंगरेजी में कूल शब्द (Cool) संस्कृत कूल से ही निकला है। अंगरेजी में कूल का अर्थ ठंडा और संस्कृत में किनारा होता है। नदी का किनारा सदैव शीतल ही होता है। हमारे प्राचीन साहित्य में नदी के किनारे के लिये कूल का ही व्यवहार हुआ है। इसी प्रकार अंगरेजी नीयर (Near) और हिंदी 'नियर' को लिया जा सकता है जिनका अर्थ एक ही होता है पास। समर्थन के लिये कबीर की एक प्रसिद्ध साखी उद्धृत की जाती है—

निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।

अंगरेजी कॉट (Cot) शब्द खाट से ही बना है, मात्र ध्वनि परिवर्तन हुआ है। गम् से ही अंगरेजी गो (Go) निकला है। इसी प्रकार सदद और शेड (Shade) कामदेव और कौमेडी, भृगु तथा ब्राइट में भी अद्भुत समानता खोजी जा सकती है।

—रूपचंद पारीक

*

विविध

भारतेंदु युग से पूर्व के अध्यापक-लेखक

प्रेमप्रकाश गौतम

ईसा की उन्नीसवीं शती में भारतेंदु युग के पूर्व फ़ोर्ट विलियम कालिज और तत्कालीन अन्य विद्यालयों में नियुक्त अध्यापकों ने हिंदी भाषा और साहित्य के अध्यापन तथा प्रचार प्रसार में योग देने के साथ हिंदी गद्य के निर्माण में भी महत्वपूर्ण योग दिया था। इन अध्यापक लेखकों में पं० सदल मिश्र और श्री लल्लूलाल सुप्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त पं० वंशीधर, पं० दयाशंकर, हरीराम, जवाहरलाल, कृष्णदत्त मिश्र आदि उस समय के और भी हिंदी अध्यापकों तथा लेखकों का उल्लेख यत्र तत्र प्राप्त होता है। डा० वार्ष्णेय के ग्रंथों में भी तत्कालीन अध्यापकों, मुंशियों और गद्यकारों का विवरण उपलब्ध होता है। उल्लिखित लेखकों के अतिरिक्त इस समय के अन्य अध्यापक गद्यकार हैं—प० रतनलाल, भैरवप्रसाद, पं० बद्रीलाल, श्रीलाल, योगध्यान मिश्र, मुशी कालीराय, कुंजबिहारीलाल, इटावावासी देवीदीन, पं० देवीदत्त त्रिपाठी, पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी और केशवप्रसाद द्विवेदी। इन लेखकों ने, जो प्रायः पाठ्यपुस्तकों के निर्माता हैं, कथात्मक रचनाओं के निर्माण और अनुवाद के साथ इतिहास, भूगोल, राजनीति, चिकित्सा, विज्ञान, अर्थशास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण, कृषि, धर्मशास्त्र आदि विविध विषयों की छोटी-बड़ी छात्रोपयोगी पुस्तकें तैयार कीं। हिंदी गद्य के विकास और शिक्षा प्रसार में इन लेखकों के भी प्रयत्नों का अपना महत्व है। यह ठीक है कि इनका लेखन अधिकांशतः अमौलिक है परंतु शिक्षा प्रसार, हिंदी प्रचार और एक सीमातक गद्यनिर्माण की दृष्टि से इनका कार्य निश्चय ही श्लाघनीय है।

इन लेखकों ने उपयोगी ही नहीं, ललित कलात्मक गद्य का भी पर्याप्त परिमाण में निर्माण किया। गद्य के विविध रूपों के उद्भव की दृष्टि से भी सदल मिश्र लल्लूलाल, हरीराम, वंशीधर, कृष्णदत्त मिश्र आदि लेखकों का कार्य महत्वपूर्ण है, 'कथा' कहानी के साथ लेख, नाटक, पत्र, भूमिका, जीवनचरित, आत्मजीवनी, यात्राविवरण, संवाद आदि गद्यरूपों की भी रचना किसी न किसी रूप में भारतेंदु युग से पूर्व के इन लेखकों ने की थी। पं० हरीराम का नाटक और पं० श्रीलाल के

लेख प्रसिद्ध हैं। बद्रीलाल के भाषण और विवरण उपलब्ध होते हैं। जहाँ तक भूमिकाओं का प्रश्न है वे १९वीं शती के प्रारंभ से ही प्राप्त होती हैं। पं० सदल मिश्र और श्री लल्लूलाल के ग्रंथों के प्रारंभ में तो भूमिकाएँ हैं ही, पं० दयाशंकर, देवीदत्त त्रिपाठी आदि परवर्ती लेखकों की भी पुस्तकों में छोटीबड़ी प्रस्तावनाएँ मिलती हैं। श्री लल्लूलाल जी ने 'लालचंद्रिका टीका' की भूमिका में जो आत्मजीवनी दी है वह खड़ी बोली गद्य में लिखित प्रथम आत्मचरित है। पं० वंशीधर कृत 'प्रसिद्ध चर्चावली' (१८५६ ई०) खड़ी बोली की प्रथम जीवनी पुस्तक है। इनके अतिरिक्त तारिणीचरण मित्र ('पुरुषपरीक्षासंग्रह' के अनुवादक-संपादक) गंगाप्रसाद शुक्ल, ख्यालीराम, कुंदनलाल, जगन्नाथ शुक्ल, गिलक्राइस्ट, विलियम प्राइस (फोर्ट वि० कालिज), जेम्स मिकल (लैलेवरी ई० इ० कालिज), मिसेज री, डब्ल्यू० टी० ऐडम, एम० टी० ऐडम, लक्ष्मीशंकर मिश्र, प्रियानाथ मित्र, रामसेवक वाजपेयी (राजा शिवप्रसाद के सहायक), रत्नेश्वर, ओंकार भट्ट, मुंशी कल्याणराम, सोहनलाल, बापूदेव शास्त्री, मथुराप्रसाद मिश्र, मोहनलाल श्रीवास्तव, पं० रामप्रसाद तिवारी, पं० रामजस, पं० शिवनारायण, कालीचरन, बल्देवबख्श, बालकृष्णशास्त्री, कृष्णलाल, पं० रामजस, बिहारीलाल, काशीनाथ, नवीनचंद्र राय आदि और भी व्यक्तियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

इन व्यक्तियों ने हिंदी पुस्तकों के संपादन, प्रकाशन या लेखन में योग देकर उस समय किसी न किसी रूप में हिंदी की सेवा की। इनमें कुछ पाठ्य पुस्तकों के निर्माता तथा कुछ उनके निर्माण में सहायक थे। कलात्मक पुस्तकों के अतिरिक्त इन लोगों ने भूगोल, इतिहास, विज्ञान, कृषि, गणित आदि विषयों की भी पुस्तकें लिखीं-लिखवाईं। खड़ी बोली की उर्दू शैली के गद्य निर्माण में इस समय के मीर बहादुरअली, शेरअली अफ़सोस, मीर अम्मन, हैदरबख्श हैदरी, काज़िम अली, मज़हरअली, इफ़ीजुद्दीन, अमानतउल्ला, बेनीनारायन, मास्टर रामचंद्र आदि अध्यापकों का विशिष्ट योगदान है।[1] दक्खिनी शैली में भी इस समय पाठ्यपुस्तकें निर्मित हुई थीं जो कथा, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों पर हैं।

फोर्ट विलियम कालिज के स्थापनाकाल से भारतेंदु के क्षेत्र में आने तक खड़ी बोली गद्य के निर्माण और प्रसार में महत्वपूर्ण योग देनेवाले नगरों में आगरा और वाराणसी अग्रणी हैं। आगरा से संबद्ध १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के हिंदी अध्यापकों

१. इन लेखकों द्वारा लिखित इस समय की उर्दू शैली की कुछ प्रसिद्ध कथा पुस्तकें हैं -- 'मज़्हबे बेनज़ीर', 'बाग़ोबहार', 'बाग़े उर्दू', 'आराइशे महफ़िल', 'दास्तान अमीर हम्ज़ा', 'बाग़ गुलशन'।

तथा लेखकों में लल्लूलाल जी[२] के अनुज पं० दयाशंकर जी, उनके पुत्र पं० हरीराम और श्री जवाहरलाल के नाम उल्लेखनीय हैं। ये तीनों आगरा कालिज में अध्यापक रहे थे। पं० दयाशंकर ने डा० डंकीन साहब के आदेश से स्कूल के छात्रों के लिये 'मिताक्षरा' के 'दायभाग' का अनुवाद किया था जो एजूकेशन प्रेस कलकत्ता से १८३२ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रंथ की भाषा संस्कृतपरक है। ब्रजभाषा के भी रूप यत्र तत्र प्रयुक्त हैं। पं० हरीराम का रामविवाह विषयक 'जानकीरामचरित' नाटक प्रसिद्ध है। जवाहरलाल जी ने आगरा कालिज के लिये १८४६ ई० में 'इतिहास चंद्रिका' (लगभग तीन सौ पृष्ठों में इंगलैंड का इतिहास) की रचना की थी। भाषा इस पुस्तक की भी संस्कृतपरक तथा ब्रजभाषा मिश्रित है। पं० केशव प्रसाद द्विवेदी भी इस विद्यालय से संबद्ध थे। उनके नाम से 'ज्योतिषसार' और 'पथ्यापथ्य विचार' शीर्षक पुस्तकें प्राप्त होती हैं।

२. श्री लल्लूलाल (१७६३ ई०–१८२५ ई०), जैसा कि हिंदी जगत् को सुविदित है, सहस्र अवदीच्य गुजराती ब्राह्मण थे। ये आगरा में नक्का-बस्ती नामक मुहल्ले में रहते थे। लल्लूलाल जी का फोर्ट विलियम कालिज में अध्यापक होना प्रसिद्ध है। इनकी छोटी बड़ी १४ रचनाएँ प्राप्त हैं— 'राजनीति' (१८०२ ई०, ब्रजभाषा गद्य में हितोपदेश का अनुवाद), 'ओरिएंटल फेब्यूलिस्ट' की कहानियों का ब्रजभाषानुवाद (१८०२), 'प्रेमसागर' (खड़ी बोली गद्य में 'भागवत' दशमस्कंध की कथा, चतुर्भुज मिश्र के ब्रजभाषा अनुवाद के आधार पर, १८०३–९), 'लतायफे हिंदी', (ब्रज और खड़ी बोली की सौ लघु कहानियों का संग्रह, संपादित ग्रंथ, १८१०), 'भाषा कायदा' (ब्रजभाषा व्याकरण, १८११), सभाविलास (ब्रजभाषा पद्य संग्रह १८१५) 'माधोविलास' (ब्रज गद्य पद्य में माधव सुलोचना की प्रेमकथा १८१७), लालचंद्रिका टीका' (बिहारी सतसई की खड़ी बोली टीका, १८१८), 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'माधोनल' 'शकुंतला' (१८०१) ये चारों काजिम अली और मजहर अली की सहायता से लिखित हैं; 'मसादिरे भाषा' तथा विद्यादर्पण (क्रमशः ग्रियर्सन और तासी द्वारा उल्लिखित)। लल्लूलाल जी का गद्य काव्या-भास और तुकमय होने पर भी पर्याप्त सुघर है।

लल्लूलाल जी के पूर्व शेख इंशाअल्ला खाँ, जो मूलतः आगरावासी थे और बाद में फर्रुखाबाद चले गए थे, फैजी कृत फारसी नलदमन का अनुवाद खड़ी बोली की उर्दू शैली में किया था।

आगरा के नार्मल स्कूल में कार्य करनेवाले तत्कालीन लेखकों में पं० वंशीधर और पं० कृष्णदत्त मिश्र के नाम अविस्मरणीय हैं।[3] पं० वंशीधर की अधिकतर पुस्तकें अनूदित हैं। उनकी उल्लेखनीय पुस्तकें हैं—'पुष्पवाटिका' (गुलिस्तां के एक भाग का अनुवाद, १८५२), 'ईश्वरता-निदर्शन' (श्रीलाल के साथ किया हुआ देवीप्रसाद के 'मजहरे कुदरत' का अनुवाद, १८५४), 'सत्यनिरूपण' (किसी गोविंदनारायण की मराठी रचना का कृष्णदत्त शर्मा के साथ किया हुआ अनुवाद, १८५४), 'छंदोदीपिका' (१८५४), 'भारतीय इतिहास' (१८५६) 'जीविका परिपाटी' (अर्थशास्त्र, १८५६), 'जगत् वृत्तांत' (१८५८), 'शिक्षामंजरी' (किसी टार्टे की अंगरेजी पुस्तक का अनुवाद, १८५८), 'भोजप्रबंधसार' और 'प्रसिद्ध चर्चावली'। तासी ने इनकी और भी हिंदी उर्दू पुस्तकें बताई हैं। ये हैं—'किसान उपदेश', 'शिक्षा पत्रावरियान', 'भाषा प्रबंध', 'उर्दू मार्तंड', 'मिरात उस्सात', 'हकायते मौजूदात', 'चित्रकारीसार', 'सैंडफोर्ड और मार्टिन की कहानी' 'धर्मसिंह का किस्सा' और 'किस्सा ई सुबुद्धि दुर्बुद्धि' (हिंदी से उर्दू में अनूदित)।

पं० कृष्णदत्त मिश्र की उल्लेखनीय रचना है—'बुद्धि फलोदय' (१८५६ के लगभग)। सोलह पृष्ठों की इस कहानी में पं० कृष्णदत्त मिश्र ने दो भागों में सरल व्यावहारिक भाषा में 'सुबुद्धी', 'कुबुद्धी' नामक दो युवकों के चरित्र का शिक्षात्मक चित्रण किया है। प्रथम का वर्णन है 'कुबुद्धी ने बालपन में जो क्रम कर लिया सीखी

३. भारतेंदु युग से पूर्व के आगरावासी लेखकों में राजा लक्ष्मणसिंह का भी कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे अध्यापक नहीं थे। परंतु आगरानगर की हिंदी सेवा की चर्चा करते हुए उन्हें विस्मृत नहीं किया जा सकता। राजा लक्ष्मणसिंह संस्कृत परक शुद्ध हिंदी के प्रेमी थे। परंतु व्यावहारिक भाषा भी उन्हें प्रिय थी। 'लगान एक्ट नं० दस' और 'इंडियन पेनल कोड' के अनुवादों में तो उन्होंने फारसी अँगरेजी के प्रचलित शब्द पर्याप्त ग्रहण किए हैं। 'शाकुंतल', 'रघुवंश', और 'मेघदूत' के अनुवाद संस्कृतपरक भाषा में हैं। उनके 'प्रजाहितैषी' पत्र में प्रकाशित होनेवाले लेख संवाद भी संस्कृतपरक शैली में होते थे। तासी ने इन्हें 'हिदायतनामा' (पुलिस-विद्या विषयक), गोपीचंद भरथरी, और 'किताबखाना शुमार-ए-मगरबी' का भी लेखक बताया है। शुद्ध हिंदी का आग्रह होने से राजा लक्ष्मणसिंह की रचनाओं में कहीं कहीं कुछ कृत्रिमता निर्जीवता अवश्य है परंतु अधिकांश में उनकी भाषा स्वाभाविक और सजीव है। अनुवादों में मूल भाव प्रायः सर्वत्र सुरक्षित हैं।

थी उसके बल से क्या क्या लाभ हुआ और कैसो प्रतिष्ठा मिली। 'दूसरे भाग में मूर्ख और दुश्चरित्र 'कुबुद्धि' के विविध कुसंग के कारण रिश्वत लेकर तीन वर्ष का कारावास दंड पाने की कहानी है।

पं० जयशंकर ने भी आगरा स्कूल बुक सोसाइटी के आदेश पर कुछ कार्य किया था। ये भी संभवतः लल्लूलाल के परिवार से संबद्ध थे। ये आगरा स्कूल बुक प्रेस मे कार्य करते थे। इनकी 'व्यंजनप्रकार' शीर्षक पुस्तक प्राप्त है। आगरा की स्कूल बुक सोसाइटी ने 'ज्ञान प्रकाश' शीर्षक पुस्तक (१८४० ई०) भी किसी से लिखवाई थी। सीहोर (मालवा) वासी ओंकार भट्ट ज्योतिषी की पुस्तक 'ज्योतिष-चन्द्रिका' ('भूगोलसार') को भी इस सोसाइटी ने १८४१ ई० में प्रकाशित किया था सीहोरवासी पं० रत्नेश्वर की 'पत्रमालिका' (१८४१)—सीहोर से बंबई तक की यात्रा पत्रों के रूप में—भी इस संस्था के आदेश से प्रकाशित हुई थी। 'इंग्लैंड द्वीप दीपिका' शीर्षक पुस्तक भी इसी संस्था की प्रेरणा से लिखी गई थी। इनके अतिरिक्त 'ज्ञान प्रकाश' (१८४० ई०), 'नीति कथा' (१८४६) और 'स्त्री शिक्षाविषय' (१८४७) शीर्षक कथात्मक रचनाएँ इस संस्था के अन्य उल्लेखनीय प्रकाशन हैं।

अन्य नगरों में भी उस समय खड़ी बोली गद्य और हिंदी पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का महत्वपूर्ण कार्य हुआ था। आरा (बिहार) के निवासी प० सदलमिश्र[४] और बनारसवासी राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद[५] के अतिरिक्त और भी कितने ही अध्यापकों और अध्यापनक्षेत्र से बाहर के व्यक्तियों ने जिनमें अनेक वाराणसी से

४. पं० सदलमिश्र की अब तक दो रचनाएँ प्राप्त हुई हैं—नासिकेतोपाख्यान (खड़ी बोली गद्य में नासिकेत कथा) तथा रामचरित्र (खड़ी बोली गद्य में 'अध्यात्मरामायण' का अनुवाद)। इनके अतिरिक्त 'श्रीभागवत' शीर्षक ग्रंथ और 'ओरिएंटल फेब्यूलिस्ट' का संस्कृत अनुवाद भी इनका कृत प्रतीत होता है। 'नक्लियाते लुकमानी' की भी रचना में मिश्रजी ने सहायता की थी। प० सदलमिश्र का गद्य स्वाभाविक-सजीव गद्य है।

५. शिवप्रसाद जी के अतिरिक्त इस समय के अध्यापनक्षेत्र से बाहर के अन्य उल्लेखनीय लेखक हैं—मुंशी सदासुखराय निसार ('सुरासुर निर्णय', 'वार्तिक')—इंशाअल्ला (रानी केतकी की कहानी) और महाराज विश्वनाथ सिंह (आनंद रघुनंदन नाटक, ध्रुवाष्टक सतिलक आदि)। राजा राममोहन राय, मक्खनलाल, अमानत आदि और भी बहुत से लेखकों ने हिंदी गद्य के निर्माण और हिंदी प्रचार में इस समय योग दिया था।

संबद्ध हैं,[१] विविध विषयों की पुस्तकों का प्रणयन किया। इन लेखकों का नामोल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पं० रतनलाल कृत 'भूगोलसार', 'कथासार' (मार्शमन के प्राचीन इतिहास का अनुवाद, १८३६ ई०) और 'भूगोलदर्पण' पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। पं० योगध्यान मिश्र ने १८३८ में 'हातिमताई' का अनुवाद किया था।

पं० श्रीलाल की पुस्तकों की संख्या काफी बड़ी है—'पत्रमालिका, चाणक्य-नीतिदर्पण, भूगोलसार, महाजनी सारदीपिका, सूरजपुर की कहानी, धरमसिंह का वृत्तांत, 'भाषाचंद्रोदय' (व्याकरण), और 'लीलावती गणित'। पं० श्रीलाल के 'समय प्रबंध', 'उर्दू आदर्श' आदि कुछ लेख भी मिलते हैं। इनकी भी पुस्तकें प्रायः अनूदित हैं। भैरवप्रसाद इंदौर हिंदी स्कूल के प्राधानाध्यापक थे। इन्होंने १८५४ के लगभग लल्लूलाल कृत 'राजनीति' का खड़ी बोली रूपांतर किया था। 'हिंदी लघु व्याकरण' शीर्षक व्याकरण पुस्तक भी इन्होंने लिखी थी। पं० बद्रीलाल (बनारस इंस्टीट्यूट) की दो मौलिक रचनाएँ ('सीता बनवास'—स्त्रीशिक्षापरक व्याख्यान तथा 'बालबोध व्याकरण') और पाँच अनूदित पुस्तकें (हितोपदेश, सहस्ररात्रि संक्षेप, राबिंसन क्रूसो का इतिहास, सिद्धांत संग्रह (न्यायशास्त्र विषयक) तथा उपदेश पुष्पवती) प्राप्त हैं। उनके नाम से 'रसायन प्रकाश' और 'पटपंचासिका' शीर्षक पुस्तकें भी मिलती हैं। मुंशी कालीराय का 'खेतनामा' (१९५३) 'कुरुक्षेत्र वर्णन', 'फतहगढ़नामा' आदि पुस्तकें प्रसिद्ध हैं।

कुंजबिहारीलाल की पुस्तकें प्रायः गणितविषयक हैं। खगोल और कल-विद्या पर भी इनकी पुस्तकें उपलब्ध हैं। इनकी भी लगभग सभी पुस्तकें अनूदित हैं। पं० देवीदत्त त्रिपाठी बरेली कालिज में हिंदी के अध्यापक थे। इनकी 'उत्तररामचरित नाटक' की टीका और भूमिका नाट्यशास्त्रीय विवेचना के कारण पर्याप्त उपयोगी है। पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का 'जानकीमंगल नाटक' (१८६२), रामकथा पर आधृत खड़ी बोली का नाटक सुप्रसिद्ध है। पं० शीतलाप्रसाद जी की और भी कई रचनाएँ प्राप्त हैं। इन लेखकों के अतिरिक्त इस समय के और भी अनेक अध्यापक लेखकों ने पुस्तक निर्माण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया था। इनका नामोल्लेख हम पीछे कर चुके हैं।

इन पुस्तकों से कुछ गद्यांश अवतरित किए जाते हैं—

इससे मेरा कहा मानकर श्री रामचंद्र को तुम भजो वे पुराण पुरुष है जो लक्ष्मी के पति यह समझ अपनी मूर्खता विचार वैर त्याग सीता को आगे कर कुल

१. भारतेंदुपूर्व के बनारस से संबद्ध लेखकों में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद के अतिरिक्त पं० शीतलाप्रसाद त्रिपाठी और पं० बद्रीलाल का कार्य हिंदी-प्रचार और गद्यविकास में योग देने की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण है।

परिवार समेत तुम राम को जा मिलो तुम्हारा भय दूर होगा वे रघुनाथ निज शरनागत को प्यार करते हैं (पं० सदलमिश्र रचित 'रामचरित्र', पृ० १६८)।

इनको देखते ही धर्मराज अपनी गादी से उठ आये आय अति भाव भगति कर ले गया, सिंहासन पर बैठाय पाँव धो चरनामृत ले बोला धन्य है यह ठौर धन्य यह पुरी जहाँ आकर प्रभु ने दरसन दिया (श्री लल्लूलाल प्रणीत प्रेमसागर, पृ० ८६)। × × × टीका—नायिका का वचन सखी से। हे सखी सोहती है श्रीकृष्ण के हिये मे घुघुचियों की माला। यहर शोभा देती है, मानो जो पिये है दावानल की ज्वालसी। तीन अग्नि संसार मे प्रसिद्ध हैं बड़वानल, जठरानल, दावानल। समुद्र की आग, पेट की आग २, औ वन की आग ३। एक समे वन मे आग लगी थी, सो श्रीकृष्ण पी गए थे। इसकी कथा दशम स्कंध मे है। सो नायिका ने माला की उस ज्वाला से उपमा दी। (श्री लल्लूलाल, 'लालचन्द्रिका टीका', पृ० ५)। 'अब लिखते हैं कि जहाँ विभाग हो गया और पिता के मरे पीछे लड़का उत्पन्न भया होय उसका किस प्रकार से भाग होता है तहाँ यह रीति है कि व्यय और प्राप्ति को मिलाय कर जो शेष बचै उसमें से विभाग होय इसका अर्थ यह है कि पिता की क्रिया कर्म से जो बचे और जो कुछ कहीं से आया होय इस सबको मिलाय कर अपने अंश की बराबर उसे भी बाँट दीजै (पं० दयाशंकर कृत 'दायभाग' पृ० २१)।

सूत्रधार नटी प्रति (प्रकट) प्यारी कहो आज तुम्हारे मन मे कौन से नाटक देखने की अभिलाषा है जो तुम कहो वही नाटक मैं तुम्हें करके दिखलाऊँ। (हरीराम कृत 'जानकीराम चरित नाटक' मे)।

उस बात से बुद्धी भी प्रसन्न हो, सभा के बीच आ साहिब को तथा और सभों को सलाम करके कलेक्टर साहिब के साम्हने विनय से जा खड़ा हुआ (कृष्णदत्त मिश्र—'बुद्धि फलोदय', पृ० ३)। 'देखो मनुष्य की बुद्धि बढ़ाने और निर्वाह के लिये कैसी कैसी विद्या और कला बनाई गई हैं जिनके जान्ने से मनुष्य चतुर होकर संसार में प्रतिष्ठित और सुखी हो जाते हैं। इस फल को देखकर भी मनुष्य विद्या की ओर से कैसे कुछ आलसी हो गये थे कि उनके नाम भी न जानते और जो कोई परिश्रमी उनके पढ़ने की इच्छा करते थे वे बेचारे संस्कृत शब्दों की काठिन्यता को देखकर चुपचाप रह जाते (पं० बंशीधर-'छंदोदीपिका', १८५४, पृ० १)। 'सभा बैठने के बड़े विच्छेदकाल मे कोई वर्ष कोई महीना कोई दिन ऐसा नहीं होता था कि जिसमें कौनसिल वाले नई नई बातें इस सभा को सर्वदा के लिये उठा देने की न करते होयें परंतु जहाज के कर लेने के विषय सब पुकारु हुए कि यह हम पर बड़ा अन्याय है। (जवाहरलाल कृत 'इतिहास चंद्रिका'; १८४७, पृ० ३३२)।

गुजरात देश कच्छ के दक्षिण में है यहाँ एक समुद्र का सोता है जिसे खावात की खाड़ी कहते हैं और एक गिरनार नाम पर्वत भरतखंडी और जैनी लोगों का तीर्थ

है। इस पर्वत के उत्तर को काठियावाड़ देश कहते हैं इसकी राजधानी बड़ोदा है। (श्रीलाल कृत भूगोलसार, पृ० ८)।

उल्लिखित लेखकों द्वारा निर्मित इस समय की पाठ्यपुस्तकें स्थूलतः त्रिविध हैं—स्वतंत्र अर्थात् अननूदित जिनकी संख्या विरल है, उर्दू, अंगरेजी, संस्कृत या बँगला से अनूदित और अन्य पुस्तकों के आधार पर लिखित। अनूदित पुस्तकों की संख्या सबसे अधिक है। ये बहुधा मूल रचना की भाषा से प्रभावित हैं। विषय-प्रतिपादन, विधानविधि और भाषाशैली में वैशिष्ट्य न होने पर भी नई पद्धति और नवीन वैज्ञानिक तथा उपयोगी विषयों की अभिव्यक्ति होने से इनका ऐतिहासिक महत्व असंदिग्ध है। इन पुस्तकों की भाषा, जैसा कि पीछे दिए गए उद्धरणों से स्पष्ट है, आधुनिक गद्य भाषा के बहुत निकट है। इनमें अधिकतर संस्कृतपरक भाषा प्रयुक्त हुई है जो कहीं कहीं कृत्रिम और निर्जीव होने पर भी पर्याप्त समर्थ और स्वच्छ है। बालक बालिकाओं के लिये लिखी जानेवाली इन पुस्तकों की भाषा प्रायः सरल सुबोध है। गणित और विज्ञान पर लिखित पुस्तकों के संख्याबाहुल्य और उनमें प्रयुक्त भाषा के सौष्ठव को लक्ष्य कर यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक अभिव्यक्ति का सामर्थ्य हिंदी गद्य को भारतेंदु के पूर्व ही एक सीमा तक प्राप्त हो गया था।

—प्रेमप्रकाश गौतम

*

चयन

महाकवि भूषण और मुरलीधर कविभूषण

कृ. गं. दिवाकर

[जर्नल आव् द एस० एन० डी० टी० वीमेंस युनिवर्सिटी, बंबई, भाग-१ में प्रकाशित निबंध]

'अलंकारप्रकाश' नामक ग्रंथ भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़ द्वारा कुछ ही दिन पूर्व प्रकाशित हुआ है। उस ग्रंथ के संपादक कैप्टेन शूरवीरसिंह पँवार हैं। 'अलंकार प्रकाश' जैसे महत्वपूर्ण तथा अज्ञात ग्रंथ का प्रकाशन उन्हीं के शोधश्रम का फल है। ग्रंथ के प्रकाशन के पूर्व इसका परिचय कैप्टेन शूरवीरसिंह जी ने विभिन्न पत्रिकाओं[1] मे करा दिया था। अलंकारप्रकाश पर लिखित परिचयात्मक लेखों पर विचार करना तब तक उचित न था जब तक अलंकारप्रकाश की संपूर्ण प्रति न मिलती। अब उस ग्रंथ के प्रकाशित हो जाने से कैप्टेन शूरवीरसिंहजी के अनुमानों तथा धारणाओं पर विचार करना संभव हुआ। 'अलकारप्रकाश' के प्रारंभ मे २० पृष्ठों की प्रस्तावना मे संपादक ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'अलंकारप्रकाश' के रचयिता मुरलीधर कविभूषण और हिंदी के प्रसिद्ध महाकवि भूषण दोनों अभिन्न व्यक्ति हैं।

'अलंकारप्रकाश' के कुछ ही समय पूर्व डा० विश्वनाथप्रसादजी के संपादन मे मुरलीधर कविभूषणकृत 'छंदोहृदयप्रकाश' का प्रकाशन आगरा विश्वविद्यालय ने किया था, परंतु उसके संपादक महाशय ने मुरलीधर कविभूषण और हिंदी के प्रसिद्ध कवि भूषण को अभिन्न व्यक्ति के रूप मे नहीं देखा है। अतः हिंदी के एक अज्ञात एवं उत्कृष्ट कवि की रचना की प्राप्ति से साहित्यान्वेषकों तथा साहित्यसेवियों को अतीव आनंद हुआ, परंतु जब कैप्टेन शूरवीरसिंहजी ने 'अलंकारप्रकाश' की भूमिका मे मुरलीधर कवि भूषण को प्रसिद्ध महाकवि भूषण के रूप मे सिद्ध करने का प्रयास किया तब हिंदी साहित्य के प्रेमियों के मन मे उसके प्रति जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही

१. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६० अंक २, संवत् २०२१ तथा साहित्यसंदेश मार्च १९५६ और भारत, जनवरी १९५६।

है। इस दिशा में मुरलीधर कविकृत प्राप्त दोनों ग्रंथों का अध्ययन करने के उपरांत यह बात अधिक स्पष्ट होने लगी कि मुरलीधर कविभूषण हिंदी के सुप्रसिद्ध वीररस के कवि भूषण से अभिन्न नहीं हैं अपितु सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। 'अलंकारप्रकाश' मे कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

> रामकृष्ण कश्यप कुलहि, रामेश्वर सुव तासु।
> ता सुत मुरलीधर कियो, अलंकार परकासु ॥४३२॥
> पाँच सुन सत्रह बरिष, कातिक सुदि छुटि जासु।
> अलंकार परकास को, कवि कीनो निरमासु ॥४३३॥

संवत् १७०५। इतिश्री गहरवार बुंदेलवंश वारिज विकासन मार्तंड राज्य लक्ष्मी रक्षण विचक्षण दोर्दण्ड महावीराधिवीर राजाधिराज श्री राजा देवीशाहि देव प्रोत्साहित त्रिपाठी रामेश्वरात्मज कवि भूषण मुरलीधर विरचिते अलंकार प्रकाशे अभिधा निरूपणोनाम दसमो उल्लासः। समाप्तम्।[2]

'छंदोहृदयप्रकाश' के अंत मे भी मुरलीधर कविभूषण ने अपना परिचय तथा ग्रंथरचनाकाल इस प्रकार दिया है—

> गहवर गुन मंडत कवि पंडित रामकृष्ण कस्यप कुल पूषन।
> रामेश्वर ता तनय सुकविजा कवि तन नहिन निरखेउ नेक दूषन।
> मुरलीधर ता सुमन सुपंचम देवीसिंह कियउ कवि भूषन।
> छंदोहृदय प्रकास रच्यो तिन्ह जगमगात जिमि मिहर मयूषन ॥८॥
>
> संवत् सत्रह सय वरष तेरह कातक मासु।
> पूनव को पूरन भयो छंदोहृदय प्रकासु ॥ ९ ॥

इति श्री पौलस्त्यवंश वारिज विकाशन मार्तंड गदा दुर्गाधिराज्य लक्ष्मीरक्षण विचक्षण दोर्दण्ड चतुःषष्टिकलाविलासिनी भुजंग महावीराधिवीर राजाधिराज श्री महाराजा हृदयनारायण देव प्रोत्साहित त्रिपाठ रामेश्वरात्मज मुरलीधर कविभूषन विरचिते छंदोहृदय प्रकासे गद्य विवरणं नाम त्रयोदसो उल्लासः ॥ १३ ॥ इति श्री पिंगल भूषनकृत भाषा समाप्तम् ॥[3]

उपर्युक्त पुष्पिकाओं से स्पष्ट हो जाता है कि उक्त दोनों ग्रंथों का रचयिता निःसंदेह मुरलीधर कवि ही है। उनके पितामह का नाम रामकृष्ण और पिता का नाम रामेश्वर था। वे कश्यप गोत्रीय त्रिपाठी थे। वे अपने पिता के पाँचवें पुत्र थे और देवीसिंह ने इन्हें 'कवि भूषण' किया। इन्होंने देवीसिंह अथवा देवीसाह के

२. अलंकारप्रकाश—संपादक कैप्टेन शूरवीरसिंह (सन् १९६२), पृ० ८९।
३. छंदोहृदयप्रकाश—सं० डा० विश्वनाथप्रसाद, पृ० ३५।

लिये 'अलंकारप्रकाश' की रचना संवत् १७०५ वि० में की और गढ़ा के राजा हृदयनारायण देव के लिये 'छंदोहृदयप्रकाश' की रचना संवत् १७२३ वि० में।

'शिवराजभूषण' में प्रसिद्ध कवि भूषण ने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

देसन देसन ते गुनी आवत जाचन ताहि।
तिनमें आयो एक कवि भूषन कहियतु आहि॥
द्विज कनौज कुल कस्यपि रतनाकर सुत धीर।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा तरनि तनूजा तीर॥
बीर बिरबल से जहाँ उपजे कवि अरु भूप।
देव बिहारीश्वर जहाँ बिश्वेश्वर तद्रूप॥[४]

इन छंदों से स्पष्ट होता है कि 'शिवराजभूषण' के रचयिता कवि भूषण कश्यप गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम रत्नाकर था और वे यमुनातीरस्थ त्रिविक्रमपुर के वासी थे जहाँ राजा बीरबल जैसे प्रसिद्ध कवि उत्पन्न हुए। यहाँ बिहारीश्वर का मंदिर विद्यमान था। इन्हें चित्रकूटाधिपति हृदयरामसुत रुद्र ने 'कविभूषण' की पदवी दी थी। उन्होंने छत्रपति शिवाजी भोंसले के लिये 'शिवराज भूषण' की रचना संवत् १७३० वि० में की थी।[५]

दोनों कवियों के परिचय में समानता केवल एक बात की है कि वे दोनों कश्यप गोत्रीय त्रिपाठी थे और दोनों को 'कविभूषण' की उपाधि प्राप्त थी। शेष बातों में कहीं भी समानता प्राप्त नहीं होती। यद्यपि मुरलीधर कविभूषण और भूषण दोनों कश्यप गोत्रीय त्रिपाठी हैं फिर भी दोनों के पिता भिन्न हैं। मुरलीधर कवि के पिता का नाम रामेश्वर है तो प्रसिद्ध भूषण कवि के पिता का नाम रतिनाथ उपनाम रत्नाकर है। प्रसिद्ध भूषण कवि जाति से कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और यमुनातीरस्थ त्रिविक्रमपुर के वासी थे परंतु मुरलीधर कवि ने 'छंदोहृदय प्रकाश' तथा 'अलंकार प्रकाश' दोनों ग्रंथों में कहीं भी अपनी जाति तथा निवासस्थान का उल्लेख नहीं किया है जिससे उनकी जाति तथा निवासस्थान के संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता। मुरलीधर कवि ने अपने पितामह का नाम रामकृष्ण दिया है परंतु कवि भूषण ने इसका उल्लेख तक नहीं किया।

४. भूषणग्रंथावली—सं० मिश्रबंधु, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (सं० २०१४), पृ० ८, छंद २५, २६, २७।
५. संपूर्ण भूषण—भारत इतिहास संशोधन मंडल, पूना (सन् १९३०), पृ० १३४, छंद ३८०।

मुरलीधर कवि को 'कविभूषण' की उपाधि देवीसिंह से प्राप्त हुई थी और प्रसिद्ध भूषण को कवि भूषण' की पदवी हृदयराम सोलंकी के पुत्र रुद्र से प्राप्त हुई थी। देवीसिंह गहरवार बुंदेल वंशीय तथा चंदेरी नरेश थे और हृदयराम के पुत्र रुद्र सोलंकी वंशीय तथा चित्रकूट नरेश थे। मुरलीधर को 'कविभूषण' की उपाधि संवत् १७०५ वि० के आसपास या पूर्व दी थी[६] तो प्रसिद्ध भूषण कवि को 'कविभूषण' की उपाधि संवत् १७२३ वि० के लगभग प्राप्त हुई थी।[७] मुरलीधर कवि अपने पिता के पंचम पुत्र थे तो भूषण अपने पिता के तृतीय पुत्र थे और इनके चिंतामणि, मतिराम, भूषण और नीलकंठ उर्फ जटाशंकर ये चार भाई होने की बात ही प्रसिद्ध है पाँच नहीं। 'मुरलीधर ता सुअन सुपंचम देवीसिंह किअउ कवि भूषन'[८] इस पंक्ति के आधार पर कैप्टेन शूरवीरसिंह का कथन है कि यह 'सुपंचम' वास्तव में देवीसिंह का विशेषण है। बुंदेल वंश के इतिहास से सिद्ध है कि उसका प्रवर्तक 'पंचम' नाम से विख्यात था।[९] शूरवीरसिंह का कहना मान लेने पर भी अनुमान में कोई अंतर नहीं हो सका। इस प्रकार दोनों कवियों में समानता की अपेक्षा असमानता ही अधिक दिखाई देती है।

मुरलीधर कविकृत 'अलंकारप्रकाश' तथा 'छंदोहृदयप्रकाश' के प्रत्येक उल्लास की समाप्ति पर एक ही सी परिचयात्मक पुष्पिका दी है परंतु 'शिवराजभूषण' में इस शैली या पद्धति के दर्शन तक नहीं होते। यदि 'शिवराजभूषण' के रचयिता मुरलीधर कविभूषण होते तो उसमें भी उसी प्रकार परिचयात्मक पुष्पिकाएँ होतीं जैसी अलंकार-प्रकाश और छंदोहृदयप्रकाश में पाई जाती है। यदि दोनों कवियों की रचनाओं का अंतरंग सूक्ष्मता से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि जहाँ मुरलीधर कविभूषण की रचनाओं में सर्वत्र 'कविभूषण' की छाप मिलती है वहाँ प्रसिद्ध भूषण की लगभग समस्त रचनाओं में केवल 'भूषन' अथवा 'भूपन भनत' ही छाप सामान्यतः दिखाई देती है। 'छंदोहृदय प्रकाश' तथा 'अलंकारप्रकाश' के रचयिता कविभूषण को अपने मूल नाम 'मुरलीधर' का बहुत ख्याल दिखाई देता है ताकि ग्रंथ के प्रत्येक उल्लास

६ हरिऔध पत्रिका, अक्तूबर, १९५६ (डा० किशोरीलाल गुप्त का लेख), पृ० २६।

७. भूषण भारती—हरदयालुसिंह (सन् १९५८), पृ० ६ तथा हिंदी नवरत्न —मिश्रबंधु (सं० १९८८), पृ० ३१४।

८. छंदोहृदयप्रकाश—सं० डा० विश्वनाथप्रसाद, पृ० १४।

९. अलंकारप्रकाश—मुरलीधर कविभूषणकृत—सं० कैप्टेन शूरवीरसिंह (सन् १९६२), पृ० ११-१२।

के अंत में वे अपने वास्तविक नाम 'मुरलीधर' का उल्लेख किए बिना नहीं रहते परंतु प्रसिद्ध भूषण कवि की समस्त रचनाओं में इसके विपरीत बात दिखाई देती है। उन्होंने केवल 'कवि वंशपरिचय' के अंतर्गत ही 'कवि भूषण' उपाधि का उल्लेख किया है, अन्यत्र वे केवल 'भूषण' शब्द का ही प्रयोग करते हैं और कहीं भी अपने वास्तविक नाम—यदि मुरलीधर है तो—का उल्लेख नहीं करते।

दोनों कवियों के काव्यादर्शों में भी पर्याप्त अंतर दृष्टिगोचर होता है। महाकवि भूषण ने 'शिवराज भूषण' में अलंकारों के उदाहरण के रूप में शायद ही ऐसा छंद प्रस्तुत किया हो जिसमें शिवाजी की प्रशस्ति न हो। उनका काव्यादर्श इस प्रकार है—

ब्रह्म के आनन तें निकसें तें अत्यंत पुनीत तिहूँ पुर मानी।
राम जुधिष्ठिर के बरने बलमीकिहु व्यास के संग सुहानी।
विक्रम भोजहु के गुन गाय के भूषन पावनता जग जानी।
पुन्य पवित्र सिवा सरजै बरम्हाय पवित्र भई बर बानी ॥२५३॥[10]

मुरलीधर कविभूषण का काव्यादर्श दूसरा था। 'छंदोहृदयप्रकाश' के 'श्री महाराज वंशानुक्रम वर्ननं' नामक प्रथम प्रकरण में उन्होंने अपने आश्रयदाता हृदयसाहि की प्रशस्ति में कुछ छंद लिखे हैं और ग्रंथ के अंत में आशीर्वादात्मक एक छंद लिखा है। इनके अतिरिक्त समस्त ग्रंथ में उनके आश्रयदाता की प्रशस्ति के छंद नाममात्र पाए जाते हैं। उदाहरणों में सर्वत्र कृष्ण काव्य की ही अधिकता परिलक्षित होती है। 'अलंकारप्रकाश' में भी थोड़ी भिन्नता के साथ इसी शैली का प्रयोग मिलता है। इसमें ग्रंथारंभ में राजवंश वर्णन है और अंत में आश्रयदाता देवीसिंह के लिये आशीर्वादात्मक छंद। शेष ग्रंथ में उदाहरण के रूप में देवीशाह तथा कृष्ण आदि का वर्णन मिलता। उनकी यह शैली महाकवि भूषण की शैली से सर्वथा भिन्न है। मुरलीधर कवि भूषण का काव्यादर्श इस प्रकार है—

हरि गुन गूंथी कविता रुचहै सबि को जऊ मीठी।
ता बिन ही जो बानी जानत साधू जन सीठी ॥
कहिए यहे कविता सब गुन सुन जऊ है जू।
जसुमति बालक लीला बरनित जिहि साधु सुषित सुनिकै जू ॥
धन सुघरी धनि वह छिन धनि धनि दिन धन्य जनमु जिउ ताको।
कविता सुधनि कहिए बरनत जह पूत महरि जसुदाको ॥[11]

१०. भूषण-पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र (द्वितीयावृत्ति, सं० २०१७), पृ० १७६, छंद २५३।

११. छंदोहृदयप्रकाश—डा० विश्वनाथप्रसाद (सन् १९५९), पृ० ६१, छंद २२, २३, २४।

'छंदोहृदयप्रकाश' ग्रंथ के साथ साथ कृष्ण बाललीला संबंधी ग्रंथ भी हैं। इसकी प्रति डेरागाजीखाँ में वल्लभाचार्य के शिष्य लालदास के मंदिर में सुरक्षित थी। पाकिस्तान हिंदुस्तान का बँटवारा होने पर भगदड़ में यह हिंदुस्तान पहुँची है। डा० किशोरीलाल गुप्त की धारणा है कि उक्त मुरलीधर कवि भूषण उस संप्रदाय के अनुयायी अवश्य थे।[१२] डा० किशोरीलाल गुप्त की धारणा विचारणीय अवश्य है।

'अलंकारप्रकाश' में छंद, अर्थदोष, रसनिरूपण, शब्दशक्ति आदि काव्यांगों के साथ ही अलंकारों का निरूपण भी किया गया है। 'शिवराजभूषण' में भी अलंकारों का निरूपण किया गया है और उदाहरण रूप में शिवाजी के वीर चरित्र के प्रसंगों का वर्णन किया है। यदि दोनों कवि अभिन्न होते तो जहाँ तक सैद्धांतिक लक्षणों की रचना है वहाँ शब्दावली एक सी होनी चाहिए थी परंतु वैसी स्थिति दिखाई नहीं देती। एक ही अलंकार के लक्षण लिखते समय दोनों ग्रंथों में प्रयुक्त छंदों की तुलना करने से ज्ञात हो जाता है कि दोनों की रचना, भाषा, तथा रीति या पद्धति तथा धारणा में अंतर है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित छंद तुलनीय हैं--

श्लेष अलंकार लक्षण :

एक भाँति के पदन जहँ उपजत अर्थ दुतीन।
ताहि कहत श्लेष है कवि भूषण बुत बीनि॥[१३]

—मुरलीधर कविभूषण

एक वचन मैं होत जहँ बहु अर्थन को ज्ञान।
स्लेस कहत ताहि को भूषन सुकवि सुजान॥[१४]

—महाकवि भूषण

व्यतिरेक अलंकार लक्षण :

अधिकाई उपमान ते उपमित मैं जो ठानि।
कवि भूषण कह कवित तहँ वितरेकहि मानि॥[१५]

—मुरलीधर कविभूषण

१२. हरिऔध (पत्रिका), अक्तूबर, १९५९, पृ० ३०।
१३. अलंकारप्रकाश - सं० शूरवीरसिंह, पृ० २२, छंद १३५।
१४. भूषणग्रंथावली— मिश्रबंधु- नागरीप्रचारिणी सभा, काशी (सं० २०१५), पृ० ४६, छंद १६५।
१५. अलंकारप्रकाश —पृ० २०, छंद १२४।

सम छविवान दुहुन में, जहँ बरणत बढ़ि एक।
भूषन कवि कोविद सबै, ताहि कहत व्यतिरेक ॥[16]

- महाकवि भूषण

सहोक्ति अलंकार लक्षण :

कारज कारण सहित जहँ कहिये जुक्ति समेत।
यहै सहोक्ति है कही कविभूषण कर हेत ॥[17]

-- मुरलीधर कविभूषण

वस्तुन को भाषत जहाँ, जन रंजन सह भाव।
ताहि सहोक्ति बखानहीं, जे भूषन कविराव ॥[18]

—महाकवि भूषण

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों कवियों की कथनपद्धति तथा भाषाशैली में पर्याप्त अंतर है। महाकवि भूषणकृत लक्षणों में जो स्पष्टता तथा विनम्रता का भाव है वह मुरलीधर कविभूषणकृत लक्षणों में नहीं है। यही स्थिति समस्त छंदों में देखी जा सकती है। 'छंदोहृदयप्रकाश' और 'अलंकारप्रकाश' के छंदों में जिस प्रकार समानता दृष्टिगोचर होती है उस प्रकार 'अलंकारप्रकाश' और 'शिवराजभूषण' तथा भूषण की अन्य रचनाओं में दिखाई नहीं देती। कहा जाता है कि शैली लेखक से अभिन्न होती है (स्टाइल इज़ द मैन)। यदि दोनों कवि अभिन्न होते तो उनकी शैली में इतना अंतर न हो जाता। इसके अतिरिक्त विषय एक होने पर भी 'अलंकारप्रकाश' तथा 'शिवराजभूषण' के अलंकारों का क्रम, वर्गीकरण, विवेचन, नामकरण आदि में भी अंतर दिखाई देता है।

महाकवि भूषण की भाषा में ब्रज भाषा के साथ साथ अरबी फारसी तथा तुर्की भाषाओं के शब्द भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं तो मुरलीधर कविभूषण की भाषा में ऐसे विदेशी शब्दों की संख्या न्यूनतम है। महाकवि भूषण की कविता का उत्कर्ष वीर रस में दिखाई देता है तो मुरलीधर कवि का शृंगार और शांत रस में। भूषण की रचनाओं में ओज गुण की प्रधानता है तो मुरलीधर कवि की रचना में माधुर्य गुण की। भूषण की रचनाओं में बालकृष्णवर्णन तथा भक्तिवर्णन विषयक छंद नहीं के बराबर हैं परंतु मुरलीधर कवि की रचनाओं में ऐसे छंद पाए जाते हैं। 'छंदोहृदयप्रकाश' के उल्लास ४, ५, ६, ७, ११, १२ में छंदों के लक्षण देने पर उदाहरण रूप में जो

१६. भूषणग्रंथावली—मिश्रबंधु—ना० प्र० स०, पृ० ४४, छंद १४६।
१७. अलंकारप्रकाश—पृ० २१, छंद १२७।
१८. भूषणग्रंथावली- ना० प्र० स०, पृ० ४५, छंद १४६।

छंद पाए जाते हैं उनमें प्रायः बालकृष्ण का ही वर्णन मिलता है। शृंगारी कृष्ण का नहीं। इस ग्रंथ में अन्यत्र कहीं कहीं भक्ति के भी छंद प्राप्त हो जाते हैं। 'अलंकार-प्रकाश' में देवभक्ति, गुरुभक्ति, मुनिभक्ति, राजभक्ति के संबंध में वर्णन मिलते हैं।[१६] मुरलीधर कविभूषण की रचनाओं में महाकवि भूषण का इतिहासप्रेम नहीं दिखाई देता। भूषण ने अपनी रचनाओं में शिवाजी की प्रशस्ति में जैसे ऐतिहासिक उल्लेख तथा वर्णन किए हैं वैसे मुरलीधर कवि ने अपने आश्रयदाताओं—देवीसिंह और हृदयनारायण देव के संबंध में नहीं किए हैं। मुरलीधर कवि की रचनाओं में जैसे गद्य का प्रयोग हुआ है वैसा भूषण की किसी रचना में नहीं मिलता।

इस प्रकार पिता का नाम, जाति, निवासस्थान, कविभूषण की उपाधि देनेवाले राजा, विषयरचना में प्राप्त कवि की छाप, भावव्यंजकता, निरूपणशैली, भाषा, कथनपद्धति, रुचिभेद आदि अनेक बातों में महाकवि भूषण और मुरलीधर कविभूषण में जो भिन्नता दिखाई देती है उससे यह निश्चित हो जाता है कि महाकवि भूषण और मुरलीधर कविभूषण दो भिन्न व्यक्ति हैं। अतः केवल दोनों के कश्यपगोत्रीय त्रिपाठी होने मात्र से उन्हें अभिन्न मानना युक्तिसंगत न होगा।



१६, अलंकारप्रकाश, पृ० ५४, ५५, ५६ ।

निर्देश

हिंदी

मरुभारती, वर्ष १४, अंक २, १९६६

राष्ट्रीय संग्रहालय में संगृहीत एक रेवत की मध्यकालीन मूर्ति और उसका वि० सं० १६८२ का अभिलेख -- डा० दशरथ शर्मा।

राजस्थान के दो महत्वपूर्ण पत्तरफलक - श्री रत्नचंद्र अग्रवाल।

राष्ट्रीय संग्रहालय में राजस्थान से प्राप्त अप्रकाशित 'सप्तमातृका' प्रस्तर प्रतिमा श्री ब्रजेंद्रनाथ शर्मा।

सरस्वती, जुलाई १९६६

अशोक के हाल में प्राप्त शिलालेख - श्री गौरीशंकर सिंह।

प्राचीन भारत में अंक और गणित—श्री श्याम मनोहर व्यास।

अँगरेजी

श्री वेंकटेश्वर युनिवर्सिटी ओरिएंटल जर्नल, तिरुपति, खंड चार, भाग १ तथा २, १९६१

स्कंदपुराणज़ विष्णुसहस्रनाम : ए स्टडी—डा० ए० आर० जी० तिवारी। विष्णुसहस्रनाम का विशद अध्ययन।

ए नोट आन द निर्विकल्प ऐंड सविकल्प पर्सेप्शन इन इंडियन फिलासफी—डा० वी० वरदाचारी। भारतीय दर्शन की 'निर्विकल्प' तथा 'सविकल्प' संबंधी धारणा पर टिप्पणी।

द कंसेप्ट आव् अध्यास इन शंकरज़ कमेंटरी आन द ब्रह्मसूत्र—श्री अजन्मेय शर्मा। ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में 'अध्यास' का निरूपण।

'भूत'—ए वर्ड एक्सप्रेसिंग सिमिली—श्री स्वामिनाथन्। 'उपमा' का एक भावबोधक शब्द 'भूत'।

टाइम इन इंडियन फिलासफी—श्री जी० एस० हर्बर्ट। भारतीय दर्शन में 'काल' का स्वरूप।

जर्नल आव् द महाराजा सयाजीराव युनिवर्सिटी आव् बड़ौदा, खंड १४, संख्या १, १९६५

वेस्टर्न इंडियन गिल्ड्स ऐंड इंटर्नैशल ट्रेड इन एंश्यंट इंडिया—सी० के० गैरोला। प्राचीन भारत में पश्चिम भारतीय व्यापार निगम तथा अंतरराष्ट्रीय व्यापार।

ब्रिटिश इंग्लिश ऐंड इंडियन इंग्लिश—ए लिंग्विस्टिक कंपेरिजन--सी० के० शेषाद्रि। आङ्ल तथा भारतीय अंगरेजी का भाषाशास्त्रीय तुलना।

कुमारिका खंड—ए स्टडी—डा० आर० एन० मेहता। कुमारिका खंड का अध्ययन।



समीक्षा

नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन

लेखक—डा० नागेंद्रनाथ उपाध्याय; प्रकाशक—काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी–५; मूल्य ६) तथा १०)।

'नाथ और संत साहित्य – तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक ग्रंथ पी-एच० डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत डा० नागेंद्रनाथ उपाध्याय का शोधप्रबंध है। इस ग्रंथ के तेरह परिच्छेदों में लेखक ने अद्यतनीन ज्ञात, अल्पज्ञात अथवा अज्ञात विषयसामग्री का प्रचुर एवं समुचित उपनिबंधन किया है। परंतु इस प्रबंध की महत्ता तथा उपादेयता प्राचीन और नवीन सामग्रीसंयोजन की प्रचुरता मात्र में नहीं है प्रत्युत् उस सामग्री के विश्लेषण के आधार पर निरूपित कतिपय सिद्धांतों की स्थापना और पोषण में है।

लेखक की पहली स्थापना है कि तांत्रिक साधना और दर्शन के विविध तत्व सिद्धों, नाथों तथा संतों के प्रायः सभी संप्रदायों के साधनों एवं दर्शनों में विविध रूपों में मिलते हैं। वास्तव में देखा जाय तो भारतीय संस्कृति आरंभ से ही समन्वयशीला रही है। इसमें अत्यंत प्राचीनकाल से नैगमिक परंपरा के तत्वों के समय आगमिक तत्वों के संमिलन के साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्य कहीं छिटपुट रूप में तो कहीं पुष्कल रूप में उपलब्ध होते हैं। इनके ऐतिहासिक अनुक्रम पर ध्यान देने से स्पष्ट विदित होता है कि आगमिक तत्व उत्तरोत्तर नैगमिक तत्वों पर हावी होते गए तथा गुप्त साम्राज्य के ध्वंस के अनंतर समस्त भारतवर्ष में आगमिक तत्वों की प्रतिष्ठा हो गई। यह अवश्य है कि इनकी महिमा निगमपरंपरा की उपेक्षा, अवहेलना, किंवा विरोध करके नहीं स्थिर हुई अपितु निगम परंपरा के ही नाम पर निगम परंपरा के ही सर्वतोभावेन अवलंबन के प्रदर्शन के साथ हुई। प्रमुख रूप से आगम तीन प्रकार के हैं—शैव, शाक्त और वैष्णव। तीनों का ही विकास-विस्तार यथासमय उपर्युक्त विधि से ही हुआ। किंतु इनके एकदेश में वेदविरोधी तीव्र स्वर भी, जैनों एवं बौद्धों की परंपरा से अनुगृहीत होकर विकसित होता गया और आलोच्य युग में यह अतिवर्णाश्रमियों का वर्ग विशेष प्रभावशाली हो गया। शैवों की वेदविरोधिनी इस परंपरा में नाथों की स्थिति है। भारतीय इतिहास में यह समय पूर्वमध्यकाल का पूर्वार्ध माना जाता है। उत्तरमध्यकाल के पूर्वभाग में कबीर प्रभृति संतों का आविर्भाव हुआ। उनका जन्म उक्त नाथयोगियों के वंशानुक्रम में हुआ लेकिन उन्हें वैष्णव

भक्तिप्रवाह ने सराबोर कर दिया। कारण यह था कि इनके समय में शैवों की यह परंपरा यवनों ने उच्छिन्न कर डाली तथा उनके आश्रयदाता राज्य भी उत्तर भारत में निश्शेष हो गए। इसके ठीक विपरीत मध्यवर्गीय जनजीवन में पली वैष्णवी भक्ति परंपरा प्राभावुक आचार्यों के नेतृत्व में नैगमिकता का बाना धारण कर देश भर में विजयिनी बनी। फिर उसकी लपेट में कबीर प्रभृति संत कैसे न आते ?

लेखक की दूसरी स्थापना यह है कि नाथों की भक्ति शैवों की परंपरा से प्राप्त योगानुगृहीत भक्ति है। वस्तुतः शैव भी भक्त हैं। इन शैवों की पाशुपत शाखा के पूर्वमध्ययुगीन विकास में नाथ संप्रदाय का अभ्युदय हुआ, यह फर्कुहर जैसे विद्वान् मानते हैं। परंतु जैसे इन पाशुपतों की भक्ति में ज्ञान और योग की प्रमुखता थी, वैसे ही नाथों में भी परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हठयोग की प्रधानता थी।

लेखक की तीसरी और सबसे महत्वपूर्ण स्थापना, संतों की भक्ति का संबंध नारदी भक्ति से अन्वित करना है। वैष्णवागम परंपरा, महाभारत और श्रीमद्‌भागवत पुराण इत्यादि में नारद भगवान् नारायण के परम भक्त तथा उनकी भक्ति के महामान्य उपदेष्टा हैं। नारद के नाम पर नारद भक्तिसूत्र एवं नारद पांचरात्र नामक एक संहिता ग्रंथ उपलब्ध है। भावावेशमयी भक्तिसाधना का स्वरूप नारद भक्तिसूत्र में मिलता है। नारद पांचरात्र तथा उसके सदृश अन्य संहिताओं में योगसंबंधी विवरण प्राप्त होता है। ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या, ये चार अंश थोड़ी बहुत मात्रा में सभी आगमों में पाए जाते ही हैं। इसी से लेखक ने संतों की भावेगयुक्त साधना का संबंध उक्त सूत्रों से और योग संबंधी तत्वों का अन्वयन आगमोक्त योगांगों से जोड़ा है। लेखक के शब्दों में—'वैष्णव और शैव परपराओं में विकसित योगों में प्रवृत्तियों का भेद नहीं, ज्ञान-योगादि के महत्व का भेद और योग के विविध विवरणों में भेद है। मैंने प्रबंध में केवल प्रवृत्तियों का विचार किया है। नाथों के योगयुक्त ज्ञान को संतों ने स्वीकार नहीं किया। संतों ने योग और ज्ञान से सवलित भक्ति को ही स्वीकार किया। भक्ति ही उनके यहाँ मुख्योपाय है।'

भावावेशमयी प्रेमाभक्ति सगुणमार्गावलंबी भक्तों में है, यह सभी जानते हैं। उपाध्याय जी ने उसी की अभिव्यक्ति निर्गुणिया संतों में भी प्रमाणित की है। इसी प्रसंग में लेखक ने हिंदी साहित्य के इतिहास की अब तक की मान्य सगुण निर्गुण संबंधी मान्यता पर भी शंका की है और संतों के अनुसार सगुण निर्गुण का अर्थनिरूपण किया है। संतों के अनुसार अवतारवाद और षोडषोपचार की भी व्याख्या की गई है। भक्ति के साधन में स्मृति के शासन के अनुसार विहित आचार-विचारों को तनिक भी महत्व न देते हुए भक्तिभावानुकूल आचारों को ही महत्व दिया जिसमें वर्णाश्रमव्यवस्था और उसके नियमों का कोई स्थान नहीं है। संतों का योग सुरत शब्द योग है, जो नाथों के योग से लक्ष्य, स्वरूप और प्रक्रिया तीनों दृष्टियों से

भिन्न है। इस सुरत-शब्द-योग का सर्वसमन्वित रूप शोधप्रबंध में प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः इन प्रसंगों की ओर अधिक तात्विक विवृति की आवश्यकता थी।

अंत मे इस शोधप्रबंध के प्रणयन के लिये उपाध्याय जी को साधुवाद देता हूँ और उनकी उपस्थापनाओं पर धीमानों को चिंतन, मनन तथा मूल्यांकन के लिये सादर आमंत्रित करता हूँ। निश्चय ही इससे लेखक का श्रम सफल एवं सारस्वत मार्ग परिष्कृत होगा।

—रामनरेश वर्मा

मुर्दा सराय

लेखक—डा० शिवप्रसाद सिंह; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, प्रकाशन, दुर्गाकुंड मार्ग, वाराणसी—५; पृष्ठ १५७; आकार ड० क्रा० १६ पेजी; मूल्य ४)।

उपर्युक्त पुस्तक काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के प्राध्यापक डा० शिवप्रसाद सिंह की बारह कहानियों का संग्रह है। प्रेमचद से आज तक कहानियों ने बहुत जमाना देखा और उनमे तकनीक तथा विषय दोनों दृष्टियों से काफी परिवर्तन हुआ है। नए युग का प्रभाव, विदेशी साहित्य का प्रत्याघात तथा सामाजिक जीवन को तीक्ष्ण दृष्टि से देखने के प्रयास ने इस विधा को नया रूप प्रदान किया है। फिर भी जो कुछ हो कहानी और उपन्यास मनोरंजन की ही वस्तु हैं और रहेंगी। यह रचनाकार का कौशल है कि वह कहानी के भीतर ऐसी आत्मा का सर्जन करे कि उससे जीवन की समस्या भी झलकती रहे। यों तो कहानी घटना का ही चित्रण होती है किंतु कुशल चितेरा चरित्र को भी उभार देता है।

जिस संग्रह की बात यहाँ की जा रही है उसमे अधिकांश कहानियाँ गाँव के जीवन का चित्रण हैं। यह स्पष्ट रूप से मालूम पड़ता है कि लेखक को गाँव के जीवन का खासा अनुभव है। इतना ही नहीं उसने उस जीवन को पैनी दृष्टि से देखा है। जो भी कभी गाँव मे रहा होगा अथवा जिसका वहाँ का निकट का संबंध रहा होगा वह देखेगा कि अरुंधती ऐसी स्त्रियाँ और सूरदास ऐसे पुरुष सदा पाए जाते हैं यद्यपि अब इस पीढ़ी की कमी होती जा रही है। सूरदास तो लुके छिपे मिल भी जाय मगर समाज में नई धारा का समावेश हो जाने के कारण, उदार शिक्षा के कारण शहरों मे तो अरुंधती के पति और उसकी सास कम मिलेंगी। गाँव में अब भी मिल जायँगी। जंजीर, फायर ब्रिगेड और इन्सान एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण है जो मनुष्य के जीवन से धन को अधिक मूल्यवान समझता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ शहरों में ही यह बात है। गाँवों मे अब भी यह भावना उत्पन्न नहीं हो पाई है। यह नगर का चित्रण है। चैन कहानी साधारण सी घटना को लेकर

लिखी गई है। इसमें मुझे मोपासाँ की कला की झलक मिलती है। इसी प्रकार कल्याण और जहाँगीरनामा में जो भावना चित्रित की गई है वह आदर्शवादिता के निकट है। प्रेम का नशा तो ऐसा ही है, किंतु आज की दुनियाँ में यह भी थैली के हाथ बिक गया है। तकावीवाली वास्तविकता की सीमा तक पहुँचती है। इस प्रकार सभी कहानियों का चित्र साफ और सुथरा है।

इन कहानियों की विशेषता मुझे यह जान पड़ी कि वास्तविकता को कला का जामा पहनाया गया है। यही इन कहानियों की विशेषता है। कहीं कहीं कविता का आनंद आता है। जैसे 'कूटे जाते हुए धान या चिउड़ा की सोंधी गंध भविष्य को भुजाओं मे बाँधकर आश्वस्त करती सी प्रतीत होती है।' 'एक क्षण मैं स्टेशन पर खड़ा इन छह घंटों के समय को समय की पेशानी पर तौलता रहा।' इस प्रकार के अनेक वाक्य मिलेंगे जिनके कारण कथा सुंदरी को अलंकार पहना दिया गया है।

किसकी पाँखें मे अशरफ चाचा का चित्र बहुत ही सुंदर है। इन पंक्तियों का लेखक स्वयं जानता है कि आज से पचीस तीस साल पहले ऐसे मुसलमान गाँवों मे बहुतायत से पाए जाते थे। खेद है कि आज जब भावनात्मक एकता का नारा बुलंद किया जा रहा है, ऐसे लोगों का लोप होता जा रहा है क्योंकि तब वह जीवन की फिलासफी थी; अब वह केवल नारेबाजी है। जीवन का अंग नहीं।

यह कहानियाँ हिंदी कहानी साहित्य मे अच्छा स्थान बनाएँगी इसमें रंचक संदेह नहीं है।

दो बातें और कहना चाहूंगा। आरंभ मे पत्र के माध्यम से भूमिका है। क्या इसकी आवश्यकता थी? डाक्टर महोदय को भाषा पर विशेष ध्यान चाहिए। यह मैं न कहता यदि डाक्टर साहब अध्यापक न होते। कहीं कहीं प्रयोग ठीक नहीं हैं। आशा है अगले संस्करण मे जब वह दोहराने लगेंगे ठीक हो जायगा।

—कु० प्र० गौ०

साहित्य परिचय

राष्ट्रभाषा और हिंदी साहित्य की गतिविधियों का परिचायक मासिक पत्र : आधुनिक साहित्य विशेषांक, जनवरी, १९६७ (वर्ष २, अंक १); इस विशेषांक के प्रधान संपादक – श्री राजनाथ शर्मा, एम० ए०; संपादक—श्री विनोदकुमार अग्रवाल, एम० ए०; स्वामित्व—विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा–३; डबल डिमाई १६, पृ० सं० २०४+८; मूल्य इस अंक का ३ रुपया छपाई, सफाई उत्कृष्ट।

'साहित्य परिचय' हिंदी के सुप्रसिद्ध और समर्थ प्रकाशक, आगरा के श्री विनोद पुस्तक मंदिर का निजी प्रयास है जिसने निरंतर एक वर्ष पर्यंत अपने प्रचारा-

त्मक उद्देश्य की पूर्ति करते रहने के अनंतर इस विशेषांक के द्वारा साहित्य के विस्तृत और व्यापक क्षेत्र में आने का प्रयास किया है। हिंदी की वर्तमान गतिविधि के अंतर्गत एक ओर परंपरागत प्रयास है तो दूसरी ओर, विशेषतः नई पीढ़ी के माध्यम से, सभी विधाओं में सर्वथा नवीन शैली, भावबोध और विषयोपस्थापन के दर्शन हो रहे हैं। इन विविधताओं से समन्वित आधुनिक साहित्य का एक समग्र स्वरूप इस विशेषांक में उपस्थित करने का प्रयास है।

इस विशेषांक मे कुल २८ निबंध हैं जिनमे आरंभ के पाँच निबंध पीठिका या भूमिका रूप मे आधुनिक साहित्य की पूर्ववर्ती विभिन्न अवस्थाओं का निदर्शन करानेवाले हैं। डा० रामरतन भटनागर लिखित प्रथम लेख 'आधुनिक साहित्य की पूर्व पीठिका' ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि जीवन और साहित्य को प्रभावित करनेवाली सभी दृष्टियों से, संश्लिष्ट परिप्रेक्ष्य मे, व्यापक विचार सामग्री प्रस्तुत करता है। भूमिका भाग के शेष चारो निबंध क्रमानुसार भारतेंदु, द्विवेदी, छायावाद युग की उपलब्धियों का विवेचन प्रस्तुत करनेवाले हैं।

तदुपरात मूल विषय सामग्री शेष २३ निबंधों मे विवेचित है। आधुनिक साहित्य मे एकमात्र नवीनतावादी साहित्य ही नहीं है, रसालंकाराश्रयी पद्धति भी, अपने ढंग से, अपने मार्ग पर आगे बढ़ रही है। इन दोनों के अतिरिक्त वर्तमान साहित्य मे पर्याप्त प्रतिनिधित्व उस धारा का भी है जिसे प्रसाद, प्रेमचंद, शुक्ल ने विकसित और परिष्कृत किया और जो अब अपने संस्कृत और उदात्त रूप में उसी मार्ग पर अग्रसर हो रही है। कथ्य की विषय वस्तु और उसे उपस्थित करने के ढंग में चमत्कार और वैचित्र्य को प्रधानता देनेवाली मध्यवर्ती चौथी पद्धति का साहित्य भी अपने मार्ग पर निरंतर आगे बढ़ रहा है। इन सभी के संबंध मे इस विशेषांक में यथेष्ट विचारोत्तेजक सामग्री संकलित हुई है।

विनोद पुस्तक मंदिर का यह सत्प्रयत्न प्रशंस्य है, अनुकरणीय है। हिंदी के प्रकाशनक्षेत्र में इस संस्थान जैसे समर्थ प्रकाशकों की कमी नहीं है। कुछेक प्रकाशकों ने इस दिशा में प्रयत्न किए भी हैं, परंतु उन प्रयत्नों मे वांछित विस्तार और गहराई का अभाव है। आशा है, भविष्य मे वे और सतर्कतापूर्वक इस सूत्र को आगे बढ़ाने की चेष्टा करेंगे।

—सुधाकर पांडेय

अंगरेजी हिंदी पर्यायवाची कोश

संपादक—डा० बदरीनाथ कपूर, प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली—६; आकार-डिमाई १६; पृ० १११; मूल्य ६)।

अर्थ विशेष की अभिव्यक्ति के लिये शब्दविशेष का निर्माण हुआ है और होता है। जब उस अर्थ की परिधि संकुचित या विस्तृत हो जाती है तब पूर्वनिर्मित

शब्द उसे व्यक्त करने में असमर्थ प्रतीत होता है और तब दूसरे शब्दों का निर्माण नितांत आवश्यक हो जाता है। अन्यथा वक्ता का भाव या विचार श्रोता तक पहुँच ही नहीं सकता। किसी जाति या समूह का भावक्षेत्र या विचारक्षेत्र ज्यों ज्यों परिवर्द्धित होता जाता है त्यों त्यों उसकी भाषा की शब्दराशि भी बढ़ती जाती है। इसी लिये हम देखते हैं कि जिसकी सभ्यता जितनी ही पुरानी और जिसका विचारक्षेत्र जितना ही व्यापक होता है उस जाति या समूह का शब्द भांडार भी उतना ही समृद्ध होता है। बहुत से शब्द जो सामान्यतः पर्यायवाची प्रतीत होते हैं, उनमें अंतर्निहित अर्थों में थोड़ा या सूक्ष्म अंतर भी हुआ करता है। यह अंतर आरंभ में तद्भाषाभाषी को भी सहज बोधगम्य नहीं होता। गहन अनुभूति, प्राप्ति और विचारप्रसार के बाद ही तत्तद्भाषा के सहृदय और मनीषी लोग उसे समझ पाते हैं। अध्यापक का यह कर्तव्य है कि छात्रों को ऐसे पर्यायवाची शब्दों के सूक्ष्म अर्थभेदों को बताता चले। संस्कृत भाषा इस दृष्टि से सर्वाधिक संपन्न भाषा है। उसमें पर्यायवाची शब्दकोश तो बने किंतु अर्थांतर का परिज्ञान करानेवाले कोश वहाँ भी नहीं हैं।

अंगरेजी भाषा भाषियों के साथ अंगरेजी भाषा द्वीप-द्वीपांतरों तक पहुँची और सैकड़ों भाषाओं के संपर्क में आकर शब्दों के दानादान का उसे सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। अतः उसके अभिधान का विपुलाकार हो जाना स्वाभाविक था। उसमें पर्यायवाची शब्दों का बाहुल्य है। उसके शब्दों के इतिहास से परिचित न होने के कारण भारतीयों द्वारा उनका असमीचीन प्रयोग सहज ही संभाव्य है। ऐसी त्रुटियों के मार्जन को दृष्टि में रखकर ही प्रस्तुत पर्यायवाची कोश तैयार करने का प्रयास हुआ है। पर्यायवाची शब्दों को साथ रखकर संपादक ने नीचे उनके पृथक् पृथक् अर्थ स्पष्ट किए हैं। पाठक अवधानवान् होकर उन अर्थों को देखेगा तो उनका अंतर उसकी पकड़ में आ जायगा। फिर तदनुकूल व्यवहार में लाने पर वह उन शब्दों की आत्मा से परिचित हो जायगा। यह अवश्य है कि संपादक कहीं कहीं अर्थों द्वारा पर्यायवाची शब्दों की अर्थभिन्नता को पूर्णतया व्यक्त नहीं कर सका है। उदाहरणार्थ—

ऐडवेंचरस—जिसमें साहसिक कार्य करने की प्रवृत्ति हो ; साहसी।

डेअरिंग—निर्भिकतापूर्वक बड़े तथा कष्टसाध्य काम करनेवाला, दिलेर। यहाँ अंतर स्पष्ट नहीं हो सका है। अन्यत्र भी ऐसा हुआ है। यथावश्यक उद्धरणों द्वारा यदि समझाने का प्रयास होता तो अंतर विशेष रूप से व्यक्त हो जाता।

हिंदी के माध्यम से इसे एक अभिनव प्रयास ही समझना चाहिए। ऐसे कोशों की उपादेयता असंदिग्ध है। अंगरेजी के नए अध्येता, अनुवादक और छात्र इससे लाभान्वित हो सकेंगे, इसमें संदेह नहीं।

—लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'

रासपंचाध्यायी

भक्ति रसायन (संस्कृत) तथा हरिप्रिया नामक हिंदी टीका सहित; संपादक तथा टीकाकार—प्राणाचार्य कविराज हरिवक्ष जोशी; प्रकाशक—आर्यविज्ञान परिषद्, २३।१, डबसन रोड, हवड़ा; पृष्ठ १४+२+४८+२८५; ड० डिमाई १६, मूल्य ६)।

श्रीमद्भागवत सामान्यतः समस्त सनातनी जनता का तथा मुख्यतः वैष्णवों का कंठहार है। सभी वाद-संप्रदाय—शैव-शाक्त-वैष्णव या द्वैत-अद्वैत-विशिष्टाद्वैत-द्वैताद्वैतवादी—अपने अपने वाद या मतमतांतर आदि का आश्रय श्रीमद्भागवत में पाते हैं। उसमें भी श्रीमद्भागवत का दशमस्कंध तो वैष्णवों का हृदय है और उसकी रासपंचाध्यायी (दशम अ० २९-३३) तो रसोपासना का मूल आधार होने के कारण उनका प्राण-स्रोत ही है। वस्तुतः रासपंचाध्यायी का रस-प्रवाह श्री शुक-मुख से न होता तो रसमयी भक्ति न होती, संस्कृत हिंदी का रसमय रीतिकाव्य न होता, उज्ज्वलाप्रीति की रीति न होती।

एक समय था जब प्राचीन आचार्य श्रीमद्भागवत के पठन-पाठन के क्रम में 'रासपंचाध्यायी' का प्रसंग आने पर उसकी गूढ़ रसमयी आत्मा का उद्घाटन अधिकारी के समक्ष ही करते थे, अपने मत से कुतर्की, वासनाग्रस्त अथवा सामान्य विद्यार्थी के समक्ष नहीं। आज मुद्रण के सुलभ होने के कारण सभी के लिये सब कुछ सुलभ हो गया है। परिणामतः सभी प्रसंगों या ग्रंथों की चर्चा यत्र तत्र सर्वत्र होने लगी है। अवश्य ही अधिकारी जन उनसे लाभान्वित होते हैं और अनधिकारीजनों को वे भ्रमित करते रहते हैं।

युग युग से रासपंचाध्यायी की अनुकूल प्रतिकूल चर्चाएँ होती रही हैं और होती रहेंगी। परंतु रसमयी भक्ति के संस्थापक आधार के रूप में उसका अचल स्थान तो रहेगा ही। ग्रंथकार ने भूमिका में तथा श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार ने बार बार इसका स्पष्ट निर्देश किया है कि प्रस्तुत ग्रंथ भावुक भक्तों के लिये ही प्रस्तुत किया गया है। हर्ष का विषय है कि श्रीमद्भागवत के मर्मज्ञ प्राणाचार्य पंडित श्री हरिवक्ष जी जोशी ने श्री रासपंचाध्यायी की मार्मिक हिंदी टीका, दुर्लभ हरिप्रिया टीका के श्लोकों तथा हिंदी अनुवाद से युक्त प्रकाशित की है।

रासपंचाध्यायी की अनेकानेक टीकाएँ, तदाधारित उत्प्रेक्षाएँ परिकल्पनाएँ सदा से होती रही हैं। कारण, 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' न्याय से इस भगवच्चरितामृतसिंधु का न तो मंथन समाप्त होनेवाला है और न उसके रत्न ही चुकनेवाले हैं। अतः अनेक टीका-प्रवचनों के उपरांत भी यह प्रश्न असंगत ही होगा कि और नवीन टीकाओं के प्रकाशन का प्रयोजन क्या? यद्यपि लेखक ने स्वयं

'रास रहस्य' नामक आरंभिक अध्याय के पृ० ४७ पर इस प्रश्न का समाधान कर दिया है। टीकाकार ने प्रत्येक मूल श्लोक का अन्वय तथा सरल सुबोध हिंदी टीका के साथ परम दुर्लभ हरिप्रिया के टीकात्मक श्लोकों के भी सरल हिंदी अनुवाद देकर भागवत रसिकों के लिये एक सामग्री सुलभ कर दी है।

यद्यपि रासपचाध्यायी की कई टीकाएँ इधर हाल में भी प्रकाशित हुई हैं तथापि आलोच्य हरिप्रिया की कतिपय उल्लेख्य विशेषताएँ हैं। महात्मा हरिसूरि कृत 'भक्तिरसायन' नाम्नी काव्यात्मक टीका से संकलित पद्यों का सानुवाद समावेश इनमें मुख्य है। महात्मा हरिसूरि नासिक के एक परम भक्त महात्मा थे जिन्होंने दशम स्कंध पूर्वार्ध पर प्रायः ५००० श्लोकों की टीका लिखी। अपनी ललित उत्प्रेक्षाओं तथा कल्पनाओं में यह टीका अद्वितीय है। कभी इसकी ५०० प्रतियाँ छपी थीं। अब यह सर्वथा दुर्लभ है। इसकी सरस उत्प्रेक्षाएँ मूल को समझने तथा रसानुभूति में भी सहायक हैं। इसके अतिरिक्त मूल श्लोकों के अन्वय पदच्छेद के साथ हरिप्रिया टीकाकार ने जो सरल सुबोध हिंदी व्याख्या (पंचाध्यायी के मूल तथा भक्तिरसायन के श्लोकों की) दी है वह वस्तुतः सहज बोधगम्य है। टीका वाग्जाल की जटिलता से सर्वथा मुक्त है। साथ ही श्री हनुमानप्रसादजी पोद्दार का आरंभिक वक्तव्य एवं हरिवल्लभजी जोशी का 'रासरहस्य' नामक विशद विवेचन, अध्ययन तथा मनन की महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

ग्रंथ के आरंभ मे श्री जोशी महोदय ने 'रासरहस्य' नामक प्रास्ताविक अध्याय में मोक्ष के साधन, जीव के तात्विक स्वरूप तथा आस्तिक दर्शनों में मतभेद, परमानंद प्राप्ति के उपाय, भक्ति के भेद, दास्य में दूरत्व, ज्ञान भक्ति के अंतर, रति के स्वरूप तथा भेद, परमभाव, श्री राधा की महाभाव स्वरूपता आदि गूढ़ विषयों को यथा-साध्य सरल, शास्त्रसंमत तथा सप्रमाण व्याख्या द्वारा समझाने की चेष्टा की है। वस्तुतः इन विषयों से परिचिति हुए बिना तथा 'रास' और 'रस' का अलौकिक पक्ष समझे बिना पंचाध्यायी में लेश मात्र प्रवेश पाना संभव नहीं। स्थूल दृष्टि रखकर तो इन दिव्य लीलाओं को चाक्षुष भौतिक भोग मान लेने के कारण विभ्रम होना निश्चित ही है। इसी लिये आरंभ में ही 'नम्र निवेदन और प्रार्थना' में श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार जी ने बड़े सुंदर शब्दों में रास पंचाध्यायी का परिचय दिया है जिसका सार यह है—

'रास पंचाध्यायी' श्रीमद्भागवत वर्णित तत्वों के सारभूत परमतत्व का परमोज्ज्वल प्रकाश है। केवल बाह्य दृष्टि से देखने पर यह सारी कथा शृंगार रस पूर्ण दिखाई दे सकती है और इससे मनुष्य भ्रमग्रस्त हो सकता है। वस्तुतः यह लौकिक कथा प्रसंग कदापि नहीं है। इसके श्रोता हैं—मरण की प्रतीक्षा करनेवाले महाराज

परीक्षित और वक्ता हैं परम योगी श्री शुकदेव जी। ऐसे श्रोता-वक्ता, ऐसे समय में, लौकिक बातें कहें सुनें, यह सोचना ही भूल है।

उपर्युक्त कुछ मोटी बातों से ही रासपंचाध्यायी के संबध मे एक निश्चित दृष्टिकोण बन जाना चाहिए। और इसी दृष्टिकोण के होने पर इसका अध्ययन मनन करना चाहिए, अन्यथा नहीं। अध्येता को यह मानकर चलना चाहिए कि इस पंचाध्यायी मे वंशीध्वनि, ब्रजांगनाओं के अभिसार, गोपियों के कूट प्रश्नों के उत्तर, रास नृत्य आदि सभी परम दिव्य तत्व हैं।

प्रस्तुत ग्रंथ श्री जोशी जी के सुदीर्घ अध्ययन तथा मनन का सुपरिणाम है। श्रीमद्भागवत प्रेमी अवश्य ही इससे लाभान्वित होंगे इसमें संदेह नहीं। बड़ा उत्तम हो यदि किसी प्रकार विद्वान् टीकाकार अपने पास सुरक्षित हरिप्रिया टीका का प्रकाशन कराकर श्रीमद्भागवत जिज्ञासुओं का साधुवाद ग्रहण करें। सम्प्रति आलोच्य प्रकाशन तो स्वागतार्ह है ही।

- राधाविनोद गोस्वामी

स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव

लेखक एम० वेंकटरंगय्या; आकार ड० क्रा० १६ पेजी; पृष्ठ संख्या ६४; प्रकाशक—प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली-६; मूल्य १)।

फरवरी, १९६७ में हुए विश्व के महत्तम लोक तंत्र भारत गणराज्य के चुनाव कार्य के ठीक पहले जनवरी, १९६७ मे यह पुस्तिका प्रकाशित और प्रचारित करके भारत सरकार ने अपने एक सामयिक कर्तव्य की पूर्ति की है। इस पुस्तिका में (१) विषय प्रवेश, (२) मतदान का अधिकार, (३) मतदाता और चुनाव क्षेत्र, (४) उम्मीदवार और राजनीतिक दल, (५) चुनावों में भ्रष्टाचार, तथा (६) वोटर के कर्तव्य, ये छह अध्याय हैं। आरंभिक अध्याय में विश्व के प्राचीनतम लोकतंत्र ग्रीस की चुनाव प्रक्रिया का विवरण देते हुए वर्तमान लोकतांत्रिक राष्ट्र के ढाँचे मे चुनाव के महत्व और उसमे निहित सर्वसामान्य जनता की सरकार का निर्माण करने की शक्ति और इसकी उपयोगिता का विवेचन है। द्वितीय प्रकरण मे मताधिकार का अधिकार विवेचित है। इसमे विभिन्न देशों मे और भिन्न भिन्न समयों पर प्रचलित मताधिकार की पद्धतियों का वर्णन है और अंत मे यह प्रतिपादित किया गया है कि सर्वाधिक बुद्धिसंगत ढंग यही है कि पूर्ण बालिग मताधिकार का अनुगमन किया जाय जैसा इस देश मे प्रचलित है।

इस प्रणाली मे एक बहुत बड़ा खतरा भी निहित है। मतदाताओं की संख्या जितनी ही अधिक होती है, चुनाव मे खड़े हुए लोगों को अपना

प्रचार करने और अपने लिये मतदान के निमित्त लोगों को प्रस्तुत करने में उतनी ही बड़ी द्रव्यराशि पहले व्यय करनी पड़ती है। अधिकांश प्रत्याशी इतने सम्पन्न नहीं होते जो इतना बड़ा व्ययभार स्वयं उठा सकें। अतः उन्हें सर्वसाधारण से चंदा लेना पड़ता है। चुन लिए जाने पर ऐसे दाताओं को उपकृत भी करना पड़ता है और इसमें स्वभावतः बहुतेरे गलत काम भी करने पड़ते हैं। पुस्तिका में इस खतरे के प्रति सावधान करते हुए इस बुराई को दूर करने का उपाय निकालने की बात भी कही गई है। अन्य अध्यायों में भी इसी प्रकार मतदाताओं और चुनाव क्षेत्रों, विभिन्न राजनीतिक दलों और उनके प्रत्याशियों एवं इस पद्धति में होने वाले तथा हो रहे भ्रष्टाचारों और मतदाता के कर्तव्यों पर विस्तार पूर्वक आवश्यक बातें दी गई हैं।

इस प्रकार इस सामयिक प्रकाशन में लोकतंत्र और उसके अंतर्गत गठित सरकार तथा सर्वसामान्य जनता से संबद्ध सभी बातें बड़ी ही स्पष्टता के साथ दे दी गई हैं। इसका पारायण करके लोकतंत्रात्मक देश का नागरिक निश्चय ही समस्त संबद्ध बातों की जानकारी और अपने कर्तव्य तथा अधिकार एवं उसका ठीक ठीक उपयोग करने की प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। इस सामयिक प्रकाशन के लिये भारत सरकार अवश्य ही धन्यवादार्ह है।

– शंभुनाथ वाजपेयी

*